सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन चतुर्दशतम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक '**समयसार प्रवचन चतुर्दशतम भाग**' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें श्री समयसार की गाथा 328 से 371 गाथाओं के प्रवचन हैं ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में एवं प्रूफ चेक करने में **श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय ..... - 2 -

आत्मकीर्तन ..... - 3 -

आत्म रमण ..... - 4 -

गाथा 328 1

गाथा 329 3

गाथा 330 4

गाथा 331 6

गाथा 332 13

गाथा 333 14

गाथा 334 18

गाथा 335 22

गाथा 336 24

गाथा 337 26

गाथा 338 26

गाथा 339 28

गाथा 340 30

गाथा 341 31

गाथा 342 32

गाथा 343 35

गाथा 344 37

गाथा 345,346,347,348 49

गाथा 349 60

गाथा 350 61

गाथा 351 62

गाथा 352 63

गाथा 353 64

गाथा 354,355 66

गाथा 356 72

गाथा 357 81

गाथा 358 86

गाथा 359 91

गाथा 360 96

गाथा 361 102

गाथा 362 107

गाथा 363 111

गाथा 364 117

गाथा 365 122

गाथा 366 129

गाथा 367 135

गाथा 368 140

गाथा 369,370,371 143

समयसार प्रवचन

चतर्दशतम भाग

प्रवक्ता---अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५क्षु०

मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

सृष्टिसाधन जिज्ञासा—इस सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार में आत्मा को अकर्ता और अभोक्ता कहा गया है। और अकर्ता अभोक्ता मात्र ही नहीं किंतु सर्व प्रकार के पर सम्बंधों से रहित बताया है। ऐसी स्थिति में जब इस संसार पर दृष्टि ड़ालते हैं तो यह प्रश्न होना प्राकृतिक है कि आत्मा सर्व विशुद्ध है तो फिर यह संसार बन कैसे गया। इसका समाधान भी पहले दिया जा चुका है कि परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव के सम्बंध से अज्ञान के कारण यह संसारी बना है और फिर इसका प्रतिशोध किया और यह सिद्ध किया गया कि किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य से चूंकि कोई सम्बंध नहीं है अत: आत्मा अकर्ता और अभोक्ता ही है, पर का अकर्ता और पर का अभोक्ता है, जैसे कि इसके बीच में निमित्त नैमित्तिक भाव वश संसार परिणमन बताया था, उसी को दृष्टि में लेकर अब जिज्ञासु यह पूछ रहा है तो क्या इस आत्मा के रागादिक का भी कोई परकर्ता नहीं है ? यदि न हो तो फिर रागादिक स्वभाव बन जायेंगे। अत: कुछ कर्ता मानना तो चाहिये। इस प्रसंग की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए आचार्य देव कहते हैं—

गाथा 328

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो।।३२८।।

समझ के सावधान—तुम किस पर को कर्ता मानते हो ? कोई चेतन प्रभु या अन्य जीव तो कर्ता है नहीं। इसका वर्णन तो पहिले कर ही दिया गया है तो क्या मिथ्यात्व आदिक प्रकृतियां क्या जीव के विभाव को करने वाली हैं ? जैसे कहेंगे आप कि मिथ्यात्व नामक प्रकृति जीव को मिथ्यादृष्टि बना देती है, तो इसका अर्थ यह है कि जीव को करने वाला अचेतन हो गया। किसी अन्य पदार्थ में तो यह सामर्थ्य नहीं है कि किसी जीव के परिणमन को कर दे। पर यह अचेतन कर्म प्रकृति में सामर्थ्य बन गई कि वह जीव के परिणमन को कर दे क्या ऐसा है ? इस प्रकरण को बड़ी सावधानी से सुनकर समझ सकते हैं। वस्तु के या आत्मतत्व के सम्बंध में सर्व प्रकार का परिज्ञान तब होगा जब वस्तु की स्वतंत्रता भी पूरी समझ में

रहे और निमित्त नैमित्तिक भाव भी पूर्ण समझ में रहे।

निमित्त नैमित्तिक सम्बंध के अवगम का आधार—निमित्त नैमित्तिक भाव तब सिद्ध होता है जब यह देखा जा रहा हो कि पदार्थ वर्तमान में इस प्रकार की योग्यता वाला है। इतने प्रकार के परिणमन होने की योग्यता है उनमें से जैसा सहज निमित्त सुयोग होता है वैसा यह परिणम जाता है। परिणमता है अपनी ही परिणति से। यह जब देखने में आएगा तब निमित्त नैमित्तिक भाव की सिद्धि होती है यद्यपि एक कल्पना में एक दृष्टि में ऐसा भी ध्यान आता है कि कल के दिन पदार्थ का जो कुछ होना होगा चाहे हम नहीं जानते मगर वही तो होगा ना ? अथवा अवधिज्ञानी जीव भविष्य की बात को देखकर आज बता देते हैं कि अमुक दिन यह होगा। वही होता है ना। यद्यपि एक दृष्टि में यह भी बात विदित होती है कि जब जो होना है तब उसमें वही होता है। और वैसा ही निमित्त सुयोग होना है यह भी एक दृष्टि में है, किंतु सर्वथा इस ही को तथ्य माना जाय और दूसरी ओर आँखें बन्द कर ली जाय तो यह समझ कि उसमें अभी परिणमन पद्धति का पूर्ण परिज्ञान नहीं किया गया है।

कार्य के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि—भविष्यज्ञताकी दृष्टि में नियतपना है पर यहां विज्ञान दृष्टि में तो यह भी है कि जैसे कोई मिट्टी का सना हुआ लोंदा है कुम्हार के चाक पर चढ़ा दिया है उस मिट्टी के लोंदे में कितने ही कुछ बन जाने की योग्यता है। वहां यह नहीं देखना कि आगे जिस एक पर्याय रूप परिणमेगा उसकी ही मात्र योग्यता है। यह जानन दर्शनमात्र और न्याय शास्त्र के अनुकूल नहीं है, कितने ही परिणमनों की उसमें योग्यता है। युक्ति से सिद्ध विज्ञान से सिद्ध, अब इतने परिणमनों में से वह परिणमन प्रकट होता है जिसके अनुकूल निमित्त का सहज योग मिला। इस दृष्टि में यह भी बात तथ्य की पड़ी हुई हैं कि यहां भी उपादान परिणमन स्वतंत्रतया करता है सब दृष्टियों का एक आत्मा में समन्वय हो सके इसके लिए सर्वतोमुखी ज्ञान के बल की आवश्यकता है ऐसी सावधानी के फल में स्वयं वस्तु याथातथ्य का ज्ञान हो जाता है।

जीव भाव के प्रकृति कर्तृत्व पर आपत्ति—वस्तु स्वातन्त्र्य को भूलकर यह कहा जा रहा है कि आत्मा के मिथ्यात्व परिणमन को क्या मिथ्यात्व नामक प्रकृति करती है ? यदि मिथ्यात्व प्रकृति आत्मा के मिथ्यात्व भाव को करती है तो लोग चेतन से तो डर खाते थे कि कहीं अन्य चेतनकर्ता न बन जाय, किंतु लो अब यह अचेतन मिथ्यात्व प्रकृति कर्ता बन गयी। क्या यह मिथ्यात्व प्रकृति जीव के मिथ्यात्व रूप बन गयी ? यदि ऐसा है तो यह चेतन भी अचेतन हो जायगा। यहां निमित्त नैमित्तिक भाव तो है पर जिसमें जो कार्य हुआ है वह कार्य उस उपादान का ही प्रभाव है, निमित्त भूत वस्तु का प्रभाव नहीं है। पर, उपादान की ऐसी कला है कि वह अपना विभाव परिणमन रूप प्रभाव पर उपाधि का निमित्त पाकर प्रकट करता है।

जैसे किसी बच्चे को कोई बड़ा पुरूष डांट गया, सता गया तो वह बच्चा खूब रोता है, अकेले खड़ा है, रोने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। अब वह डांटने वाला तो भाग गया। अब वह बच्चा रो रहा है। रोते-रोते रोने की स्पीड कुछ हल्की हो ही जाती है, और बहुत देर हो जाय तो रोना फिर बन्द भी हो जाता है। सो घन्टे भर तो वह रोया, आखिर में उसे रोना बन्द करना पड़ा। अब आ गए उसके पिताजी। तो पिताजी को देखकर फिर उसने जोर-जोर से रोना शुरू किया। तो क्या उसके पिताजी ने उसे रूला दिया ? नहीं। उस रोने का प्रभाव उस बच्चे का ही है। पिता का दिखना वहां आश्रयमात्र है।

प्रभाव, प्रभावक व निमित्त का विश्लेषण—भैया ! इस प्रकार प्रत्येक उपादान विभावरूप प्रभाव बनाता है तो किसी पर द्रव्य का निमित्त पाकर ही बना पाता है। वह प्रभाव निमित्तभूत वस्तु का नहीं है किन्तु वह उपादान का ही है। इस कारण यह जीव अपने सम्यक्त्व परिणमन से च्युत होकर जो मिथ्यात्व रूप परिणमन करता है उस मिथ्यात्व परिणमन में प्रभाव उस ही परिणमने वाले का है। मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर वह प्रभाव बना है। अंत: स्वरूप दृष्टि से देखो तो आत्मा और कर्म में सम्बन्ध नहीं है, फिर भी निमित्त नैमित्तिक भाव का सम्बंध है, निमित्त नैमित्तिक अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ में होता है। और जहां एक द्रव्य में भी एक गुण के परिणमन का निमित्त पाकर अन्य गुण में परिणमन होता है। जैसे कि आत्मा में इच्छा परिणमन का निमित्त पाकर आत्मा में योग परिणमन होता है। वहां यद्यपि इन दोनों गुणों का आधारभूत पदार्थ एक है तो भी उन गुणों के स्वरूप का परस्पर में अभाव है।

अचेतन के कार्य की अचेतन से तन्मयता—यह मिथ्यात्व नामक प्रकृति पौद्गलिक कार्माणवर्गणा का तत्व है अचेतन है और आत्मा चेतन है। आत्मा के विभावों में यह मिथ्यात्व प्रकृति निमित्त होती है, इस मूल विवाद को लेकर जिज्ञासु ने यह बात खड़ी की कि मिथ्यात्व नामक प्रकृति जीव के मिथ्यात्व भाव को करती है। इसके समाधान में यह बता दिया है आचार्य देव ने कि यदि मिथ्यात्व प्रकृति जीव के मिथ्या भाव को कर दे तो इसका अर्थ यह हुआ कि जीव के मिथ्या भाव का करने वाला अचेतन कर्म हुआ। अब इससे उल्टी एक समस्या और रखी जा रही है कि जीव पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व करता है, उसका समाधान भी इसी गाथा में है--

गाथा 329

अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो।।३२९।।

पुद्गल के भाव मिथ्यात्व की मान्यता में आपत्ति—जैसे कि आत्मा के विभाव होने में पुद्गल कर्म निमित्त होते हैं इस ही प्रकार पौद्गलिक कार्माण वर्गणावों में कर्मपना आने में जीव का विभाव निमित्त होता है। इस प्रसंग में अब जरा यह देखो कि मिथ्यात्व वास्तव में किसकी चीज है। मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्या परिणमन। विपरीत बात, विपरीत भाव, विपरीत भाव जीव में तो समझ में आता है कि जीव में मिथ्यात्व हो गया, पर यह कुछ बात ठीक साक्षात नहीं बैठती है कि कार्माण वर्गणावों में भी मिथ्यात्व आ गया, लेकिन कहा है कर्मों का नाम मिथ्यात्व। कर्मों का नाम मिथ्यात्व कैसे पड़ गया। कर्मों में क्या मिथ्यापन है ? अचेतन है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का पिण्ड है, और यह भी सही है कि जीव के मिथ्यात्व भाव का निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्म बन्ध गया, एक क्षेत्रावगाह हो गया, जहां आत्मा जाता है उसके साथ यह भी जाता है। इतना तक भी ठीक है पर उसमें मिथ्यात्व क्या आ गया। अब देखो कि मिथ्यात्व जीव का भाव है और जीव के मिथ्यात्व भाव का निमित्त पाकर कर्म में कुछ ऐसी बात बनी है, ऐसा कर्म बंधा है कि जिस कर्म का भविष्य में उदय आने पर जीव को मिथ्यात्व का भाव बनेगा। तो जो जीव के मिथ्यात्व भाव का कार्य है (निमित्त दृष्टि से कहा जा रहा है) और जो आगामी काल में जीव के मिथ्यात्व भाव का कारण बनेगा उस कर्म का नाम भी मिथ्यात्व पड़ जाता है।

जीव भाव के मिथ्यापन की युक्तता—भैया ! अब ध्यान में आया होगा कि सही नाम तो जीव के परिणाम का नाम है मिथ्यात्व और सम्बंधवश पौद्गलिक कर्म प्रकृति का नाम मिथ्यात्व पड़ा। तो देखो ना कि जीव के पुद्गल द्रव्य का मिथ्यात्व किया है, ऐसी शिष्य के जिज्ञासा होने पर आचार्य देव कहते है कि यदि ऐसा मानेंगे कि यह जीव पुद्गल द्रव्य का मिथ्यात्व करता है तो पुद्गल द्रव्य मिथ्यादृष्टि हुआ, जीव मिथ्या दृष्टि नहीं हुआ। जीव ने पुद्गल का मिथ्यात्व किया तो पुद्गल ने पुद्गल का मिथ्यात्व किया तो मिथ्या कौन बना ? पुद्गल। तो जीव फिर मिथ्यादृष्टि न रहा, पुद्गल कर्म ही मिथ्यादृष्टि रहा, इस कारण आपके जो द्वितीय प्रश्न की उपस्थिति है यह भी सही नहीं बैठती।

अचेतन कर्म प्रकृति जीव के मिथ्यात्व को करे तो चाहे आपत्ति यह आये कि जीव का करने वाला अचेतन बन गया, किन्तु दूसरी जिज्ञासा में, यदि ऐसा माना जाय कि जीव पुद्गल कर्म को मिथ्यात्व को करता है तो इसमें पुद्गल मिथ्यादृष्टि बन गया। अब जीव नहीं रहा। इन दोनों पद्धतियों को सुनकर के जिज्ञासु फिर तीसरी बात रखता है और फिर आचार्यदेव उसका समाधान करते हैं।

गाथा 330

अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहि कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं।।३३०।।

भाव मिथ्यात्व की उभयकृतता मानने पर आपत्ति—जीव और प्रकृति ये दोनों पुद्गल के मिथ्यात्व को करते हैं, यदि ऐसा मानते हो तो दोनों के द्वारा किया गया जो कार्य है उसका फल उन दोनों को भोगना पड़ेगा, अर्थात् मिथ्यात्व को जीव भी भोगे और कर्म भी भोगें। एक बात कुछ ऐसी प्रसिद्ध है कि प्रकृति तो कर्म का कर्ता होता है और पुरूष कर्म के फल का भोक्ता है, इसमें एक दृष्टांत आता है कि जीव स्वयं कर्म को करने वाला नहीं हैं उसमें पर उपाधि निमित्त अवश्य होती हैं, जो पर उपाधि निमित्त है वह कर्ता हुआ-जीव के राग द्वेषादिक भावों का, पर रागद्वेषादिक भावों का भोक्ता कौन है ? यह समझाने के लिए अपरिणामी सिद्धान्त में प्रसिद्ध बात है कि प्रकृति कर्ता है और पुरूष भोक्ता है। उनके सिद्धान्त में रहस्य क्या बना हुआ है कि राग द्वेषादिक का करने वाला आत्मा कतई नहीं है क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप है।

ज्ञान रहित चैतन्य की कल्पना—सांख्यों ने आत्मा को चैतन्य स्वरूप यों माना कि समझ लीजिए जड़वत है, वह चैतन्यमात्र है, वह जानता नहीं है, देखता नहीं है, जानना और देखना प्रकृति का धर्म है। सांख्य सिद्धांत में बताया है कि प्रकृति का धर्म जानन है, ज्ञान है, जीव का धर्म ज्ञान नहीं है। जीव का स्वरूप तो चैतन्य है। अब जरा इसमें कुछ प्रश्नोत्तर करके देखो कि वह चेतन क्या है, जो न जानता है न देखता है फिर भी चेतता है ? तो उत्तर में यह बताया है कि जब बुद्धि का संयोग होता है चैतन्य में तब अज्ञान था ज्ञान परिणमन होता है और बुद्धि का संयोग मिट जाय तो ज्ञान परिणमन भी मिट गया और इसी का नाम मोक्ष है। जब तक जीव में ज्ञान हैं तब तक यह संसार में है और जब ज्ञान नहीं रहा तब यह जीव मुक्त हो जाता है।

ज्ञान रहित चैतन्य की मान्यता से शिक्षा की ओर झुकाव का यत्न—इस सांख्य सिद्धांत में रहस्य की बात क्या मिली ? कि ज्ञान उसे माना गया है जो पर को पकड़कर दन्द फन्द में पड़े। वह ज्ञान क्षायोपशमिक है। इस ज्ञान का बुद्धि से सम्बंध है। उस ही ज्ञान का नाम बुद्धि है, यह ज्ञान जब तक रहता है तब तक मुक्ति नहीं होती है। ऐसी यह बात तो ठीक है किन्तु चेतन में जो स्वपर प्रकाशिता है जो इस प्रकार के अभेद रूप हैं कि जिसका बाह्य रूपक कुछ बताया नहीं जा सकता फिर भी स्वपरग्राहिता है केवल शान के विषय में लोग यों बोलते हैं कि उन्होंने जो मकान जो दूकान जो फूफा, बहनोई, साले, स्वसुर जहां जैसे देखे वैसा होता है सो भैया !वहां लेप लपेट आदि नहीं है। अरे ! केवल ज्ञानी का ज्ञान कितना साधारण स्वरूप होता है कि जहां विकल्पों का अवकाश नहीं। केवल का ज्ञान है। जैसा उनका

ज्ञान है उस ज्ञान के जरिये से यहां संसारी जीवों का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, परन्तु है उनका निर्मल ज्ञान। समस्त त्रिलोक त्रिकाल का ज्ञान है, ऐसा ज्ञान स्वरूप चैतन्य का स्वभाव ही है, इस ओर दृष्टि नहीं देते पर ज्ञान को मोटे रूप से देखने पर यह बात ठीक बैठती है कि जब तक ज्ञान है तब तक संसार है, ज्ञान नहीं रहा तो संसार मिट गया, पर मोक्ष होने पर भी ज्ञान इतना साधारण व्यापक रूप से रहता है कि इसे बहुत सूक्ष्म दृष्टि करने पर ज्ञान में आता है।

ज्ञान की सूक्ष्मता और व्यापकता—भैया ! ज्ञान बहुत पतली चीज है क्योंकि वह व्यापक है पतली चीज में मोटी चीज समाया करती है। मोटे में पतली चीज समा सकती है क्यों ? नहीं ! पतली में मोटी चीज समा जाती है। सुनने में आपको कुछ बिगड़ा सा लग रहा होगा। जो मोटा है उसमें पतला आ ही जायगा। पर पतले में मोटा कैसे आयगा ? सुनो अच्छा, कैसे पतले में मोटा आता है। देखो यह जमीन मोटी है और पानी पतला है, तो पानी के बीच में जमीन है या जमीन के बीच में पानी है ? पानी के बीच में जमीन है। पूछ लो भूगोल वालों से। पूछ लो उमास्वामी से स्वयंभूरमण समुद्र से। इतना सब कुछ घेर लिया कि सारा समुद्र और सारी जमीन का जितना विस्तार है उससे भी अधिक विस्तार अन्तिम समुद्र का है। तो पतली में मोटी चीज आयी। बतलाओ पानी पतली चीज है या हवा ? हवा पतली है। उस हवा में सब पानी भी समा गया। अच्छा हवा पतली है कि आकाश ? आकाश तो आकाश में सब हवा भी समा गयी। फिर भी वह आकाश बड़ा है। अच्छा आकाश पतला है कि ज्ञान ? ज्ञान पतला है तो इस ज्ञान में यह सारा आकाश समा गया फिर भी ज्ञान की यह मांग है कि ऐसे ऐसे अनगिनते आकाश हों तो हमारी भूख मिटेगी। जानने की नहीं तो हम भूखे ही हैं वह सारा आकाश ज्ञान के एक कोने में पड़ा है।

रागादि भाव की उभय कृतता का अभाव—भैया ! ऐसा ज्ञान ही जब न ध्यान में रहा तो प्रकृति का धर्म ज्ञान बताया जाता है। जब ज्ञान भी प्रकृतिधर्म हुआ तो रागादिक को तो प्रकृति धर्म कहना ही चाहिए। तो इस मिथ्यात्वादि भाव को जीव और प्रकृति दोनों मिलकर करते हैं, तो फिर इस मिथ्यात्व का भोक्ता जीव और प्रकृति दोनों को होना चाहिए। पर है क्या ऐसा ? जैसे जीव परेशान है इसी तरह से क्या कर्म प्रकृति भी भ्रमी है, परेशान है ? नहीं। वह तो अचेतन है, कुछ भी दशा बन जाय उससे उसका क्या बिगाड़। तो यह भी बात ठीक नहीं बैठती कि जीव और प्रकृति दोनों मिलकर पुद्गल के मिथ्यात्व को कर दें। इसके बाद चौथी बात रखेंगे।

गाथा 331

अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा।।३३१।।

विभाव की किसी के द्वारा कृतता न मानने पर आपत्ति—प्रकृति को जीव का मिथ्यात्व करना मानने में दोष बताया है। जीव को पुद्गल का मिथ्यात्व करना मानने में दोष बताया है और दोनों मिलकर पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को करें इसमें भी दोष बताया है और तब चौथी बात यह कही जा रही है कि न तो प्रकृति और न जीव पुद्गल द्रव्य को भाव मिथ्यात्व रूप करता है तो पुद्गल का अब मिथ्यात्व रूप परिणमन मानना क्या असत्य नहीं हुआ ? क्या बात निकली अब तक ?

प्रथमपक्ष—कोई कहते हैं कि जीव ही अब तक मिथ्यात्व आदिक भाव कर्म का कर्ता है क्योंकि उसको अचेतन प्रकृति का कार्य मानने पर उसमें अचेतनता आ जायगी। याने जीव में जो मिथ्यात्व परिणाम होता है उसका कर्ता जीव है। सो विभाव को जीवकृत मानने पर विभाव शाश्वत बन बैठेगा। अज्ञान अवस्था तक यह तो है सिद्धांत की बात, अब इसके विपरीत में कोई बात सोची जा रही है।

द्वितीयपक्ष—जीव में होने वाले मिथ्यात्व को यदि प्रकृति का कार्य माना जाय तो कारण सदृश कार्य होता है, इस नियम के अनुसार मिथ्यात्व भाव में अचेतनता आ जायगी, अर्थात् वह चिदाभास न रहकर कोरा अचेतन का परिणमन होगा और यदि हो गया अचेतन का परिणमन तो अचेतन क्लेश पाये तो पाये। जीव की फिर क्या अटकी कि वह अपने हित का उद्यम करे।

तृतीय पक्ष—तीसरी बात यह है कि जीव अपने ही मिथ्यात्व भाव का कर्ता है। पुद्गल में मिथ्यात्व परिणाम कर दे ऐसा नहीं है। कोई द्रव्य किसी भी द्रव्य का परिणमन कर दे अर्थात् उस रूप परिणम जाय यह त्रिकाल नहीं होता। जीव ही अपने मिथ्यात्व परिणाम का कर्ता होता है। यदि यह जीव पुद्गल द्रव्य में मिथ्यात्व भाव कर दे तो या तो पुद्गल जीव बन जायगा या पुद्गल चेतन बन जायगा।

चतुर्थ पक्ष—चौथी बात यह है कि जीव और प्रकृति मिथ्यात्व आदिक भाव कर्म के ये दोनों ही कर्ता हो जायें। तो जीव की तरह अचेतन प्रकृति को भी फल भोगने का प्रसंग हो जायगा।

पंचम पक्ष—और भैया ! ऐसा भी नहीं कह सकते कि जीव और प्रकृति दोनों के दोनों मिथ्यात्व आदि के भाव कर्म के कर्ता नहीं है अन्यथा स्वभाव से ही द्रव्य में मिथ्यात्व परिणाम आ जायगा। देखो

किसी विभाव परिणाम में निमित्त भूत पर उपाधि न मानी जाय तो विभाव स्वभाव से हो गया। विभाव स्वभाव परिणमन हो गया ऐसी उसमें आपत्ति आ गई। इस कारण यह ही सिद्ध होता है कि जीव कर्ता है और जीव का कर्म है कार्य है यह बात सिद्ध होती।

स्याद्वाद द्वारा निर्णय—भैया ! मिथ्यात्व भाव जो आया वह कार्य है ना। कार्य उसे कहते हैं कि पहले तो न था और अब हो गया ऐसा जो जो कुछ भी हो वह सब कार्य कहलाता है, तो मिथ्याभाव आना यह कार्य है, इसलिए यह कर्म बिना किए हुए चूंकि हैं नहीं और इस बात में भी किसी एक बात पर दृढ़ता से नहीं रह सकते कि किसने किया। जीव ने भी नहीं किया कर्म ने भी नहीं किया। दोनों ने भी नहीं किया। और दोनों ने नहीं किया सो भी नहीं है। यह क्या निर्णय है। तत्व ज्ञानी पुरूष का ऐसा ही विलास है ऐसी ही लीला है कि चारों की चारों बातें वहां सिद्ध होती हैं।

कृति के प्रसंग में बालक का दृष्टांत—एक बालक है इस बालक को मां ने पैदा किया क्या ? नहीं। बाप ने पैदा किया क्या ? नहीं। और दोनों ने किया क्या ? नहीं। तो क्या दोनों ने नहीं किया ? तो और बात है क्या ? बड़ी कठिन बात है। मां ने केवल पैदा नहीं किया। समझ में आ गया। बाप ने केवल पैदा नहीं किया। समझ में आ गया। अच्छा यह भी समझ में आ गया कि चूंकि पुत्र पृथक द्रव्य है सो मां बाप दोनों ने मिलकर उस पृथक भूत अन्य द्रव्य को उत्पन्न नहीं किया। अच्छा यह भी ठीक जच रहा है। और दोनों ने नहीं किया ऐसा भी नहीं है क्योंकि आखिर वह एक कार्य ही तो है। तब फिर क्या है ? तो यह विवरण बहुत बड़े लम्बे चौड़े वर्णन के साथ बताया जायगा। इसी तरह रागादिक को जीव ने नहीं किया क्योंकि केवल जीव करे तो जीव का स्वभाव बन जायगा। और फिर कभी छूट न सकेगा। कर्मों ने भी नहीं किया। क्योंकि कर्म पृथक भूत वस्तु हैं, वे जीव का परिणमन नहीं करते और जीव कर्म दोनों ने मिलकर नहीं किया, क्योंकि यदि इस मिथ्यात्व रागादिक भावों को जीव कर्म दोनों मिलकर करते हैं, उसका फल दोनों को भोगना चाहिए। केवल जीव ही क्यों भोगे। और दोनों ने नहीं किया यह भी बात नहीं है क्योंकि वह कार्य है स्वत: नहीं किया गया है, तब फिर बात क्या है अन्तिम ?

विभाव के कर्तृत्व के सम्बंध में निर्णय—भैया ! इसका निर्णय यह है कि जीव का मिथ्यात्व जीव का कर्म है और वह जीव से अन्वयरूप है। जीव में अनुगत जीव में ही उद्गत नहीं होते। तब यह सिद्ध हुआ कि अज्ञान अवस्था में पुद्गल का निमित्त मात्र पाकर जीव रागादिक का कर्ता होता है। जो लोग जीव के रागादिक भावों को करने वाले कर्म ही समझते हैं, आत्मा के कर्तृत्व का घात करते हैं उन्होंने इस आगम वाक्य का कुछ भी ख्याल नहीं किया कि कथंचित् यह आत्मा ही रागादिक का कर्ता है। उन्होंने आगम के विरूद्ध निरूपण किया।

प्रकृत जिज्ञासा का मूल मर्म—चीज कहां से उठ रहीं है ? सांख्य सिद्धांत सर्व जालों को प्रकृति के द्वारा किया हुआ मानता है। बात कुछ फपती सी भी है, रागादिक को कर्मों ने किया, क्योंकि जीव ही करे तो स्वभाव बन जाय। पर भोगने वाला कर्म नहीं है, जीव ही भोगने वाला है। ऐसा सांख्य सिद्धांत को लेकर यह चर्चा चल रही है, तो फिर इस आत्मा ने किया क्या ? और जो कुछ नहीं करता, कुछ नहीं परिणमता वह सत् ही नहीं है। है क्या विश्व में कोई ऐसा पदार्थ कि जो है और परिणमे बिल्कुल नहीं ? ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। क्या खरगोश के किसी ने सींग देखा है ? नहीं होते हैं न। तो जो नहीं है वे क्या परिणमेंगे और जो हैं वे परिणमे बिना नहीं रहेंगे।

परिणमन का आधार—भैया ! बच्चे लोग दवाई बताया करते हैं कि धुवां की छाल और बादल की कोंपल ले आओ उन्हें गधे की सींग से रगड़ कर उसे पीलो तुम्हारी तबीयत अच्छी हो जायगी। तो भाई धुवां की छाल कहां मिलती है ? बादल की कोंपल लखो कोई ढूंढ़ के। और गधे का सींग भी किसी ने देखा है क्या ? तो असत् पदार्थ का न परिणमन है और न उसका उपयोग है। जो परिणमन शून्य है वह असत् है। जो सत् है वह कभी परिणमन शून्य नहीं हो सकता। एक परिणमन के दो द्रव्यकर्ता नहीं होते हैं। एक द्रव्य दो द्रव्यों का परिणमन नहीं कर सकता। अपने को करे और पराये को भी करे। कोई किसी का कुछ कर दे क्या हर्ज है, वैसे ही आज सहयोग का जमाना है यदि कोई किसी का कुछ कर दे तो कोई एक ही रहेगा, कौन न रहेगा। सब नष्ट हो जावेंगे। इस कारण यह वस्तुगत् नियम है कि एक स्वयं ही परिणमेगा। उसे कोई दूसरा नहीं परिणमाता।

विभाव परिणमन की पद्धति—विभाव रूप परिणमने वाले तत्त्व में ऐसी ही योग्यता है कि वह अन्य उपाधि का निमित्त पाकर अपने विभाव रूप परिणम जाता है। पर इस विभाव परिणमन का निमित्त ने कुछ नहीं किया। उसका यहां अत्यन्ताभाव है। वह अपना बाहर ही रहा किन्तु हो जाता है यों परिणमन। देखो इन सब श्रोतावों का निमित्त पाकर हम बोल रहे हैं। पर इनका कुछ भी द्रव्य, गुण, पर्याय मुझमें नहीं आया और जो मेरी चेष्टा है यह है एक असर। यह असर भी आपका नहीं है, किन्तु ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बंध का मेल है कि आपका निमित्त पाकर हम चेष्टा कर रहे हैं। अपना असर अपने में हम खुद उत्पन्न कर रहे हैं। अथवा मेरे इस प्रवर्तन का निमित्त पाकर आप सब सुनने रूप परिणमन कर रहे हैं। यहां भी हम आपमें स्वयं भी नहीं गए। अपनी ही जगह आप अपने ही स्थान में हैं, पर ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बंध का मेल है कि किया कराया किसी ने किसी का कुछ नहीं हैं।

सत् के परिणमन की अवश्यंभाविता—यहां जिज्ञासु श्रमण अपना यह पक्ष रख रहा है कि रागादिक को करने वाली कर्म प्रकृति है। तो उनको समाधान रहे हैं कि यदि कर्म प्रकृति ने राग किया तो आत्मा ने

क्या किया ? और आत्मा ने यदि कुछ न किया तो जो कुछ भी नहीं परिणम सकता वह पदार्थ ही नहीं है। सिद्ध भगवान भी निरन्तर परिणम रहे हैं। हम आपका ज्ञान तो अन्तर्मुहूर्त में किसी विषय को ग्रहण करता है पर सिद्ध का ज्ञान एक एक समय में समस्त पदार्थों को ग्रहण करता रहता है। इतनी तेजी से परिणमने वाले सिद्ध हैं। अपने लोग तो कछुवा की चाल की तरह परिणम रहे हैं, याने किसी पदार्थ के जानने का उपयोग बनाने में अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है फिर भी वहां वस्तु का भले प्रकार परिज्ञान नहीं, सो भी ऐसे एक अन्तर्मुहूर्त में जिसमें अनेक अन्तर्मुहूर्त समाये हुए हैं, किन्तु सिद्ध भगवान का ज्ञान एक एक समय में पूर्ण-पूर्ण जानता है।

स्याद्वाद का परिचय—भैया ! जो न परिणमे वह सद्भूत ही नहीं रह सकता। तुम यह क्या कह रहे हो, प्रकृति ही करता है। ऐसे प्रकृतिवादियों के मोही मलिन बुद्धियों के बोध कराने के लिए उनकी शुद्धि करने के लिए अब वस्तुस्थिति बतायी गयी जिस वस्तुस्थिति का कलन स्याद्वाद के नियम द्वारा हुआ है। स्याद्वाद का अर्थ है अपेक्षावाद। इस अपेक्षा से ऐसा है इस अपेक्षा से ऐसा है। एक बात आज लोगों मैं प्रसिद्ध है कि स्याद्वाद का चिन्ह 'भी' को कहते हैं, ऐसा भी है, ऐसा भी है, पर यह बात सही नहीं है स्याद्वाद का चिन्ह 'ही' है यदि हम आपके बच्चे के बाबत कह दें कि यह अमुकचन्द का बेटा भी है और बाप भी है तो क्या आप सुनना पसन्द करेंगे। न पसन्द करेंगे। 'भी ' चिन्ह नहीं है, स्याद्वाद का चिन्ह 'ही' है। यह अमुकचन्द का बेटा ही है। अपेक्षा लगाकर बात बताने में 'ही' का प्रयोग करना चाहिए। अपेक्षा बताकर बात बताने के बाद भी का प्रयोग करेंगे तो उसमें विवाद उठ खड़ा हो जायगा। शास्त्रों में भी जितने कथन हैं स्याद्वाद विषयक सब जगह ही का प्रयोग है, भी का प्रयोग शास्त्रों में स्याद्वाद बताते हुए कहीं नहीं किया गया । यह आज की प्रणाली में समझाने में आ रहा है।

स्याद्वाद की निश्चायकता—भैया ! जहां स्याद्वाद के भंग बताए हैं वहां यही तो कहते हैं कि जीव: स्यात् नित्य: एव। ग्रंथों में खूब देख लो—जीव: स्यात् अनित्य: एव जीव:स्यात् अवक्तव्य:एव। आगे इसमें एव लगा हुआ है। भी लगाने की पद्धति कब से निकली। जब कि अपेक्षा तो मुख से न कहना। उसे तो अपने मन में रखे रहे और धर्म बतावे तब वहां भी फिट बैठने लगा, जैसा मन में समझलो जिसकी जो अपेक्षा है और कहें जीव नित्य भी है और जीव अनित्य भी है, अभी अपेक्षा लगा ली पर स्पष्ट वर्णन नहीं हुआ। कहना यह चाहिए कि जीव द्रव्य दृष्टि से नित्य ही है। जीव पर्याय दृष्टि से अनित्य ही है, इस तरह ही का प्रयोग करते हैं, बोलते हैं, यह निश्चायक शब्द है। धर्म पड़ा है बीच में और उसको कसने वाले शब्द हैं अगल बगल। जो धर्म नित्य बताते हैं तो एक ओर लगाते हैं स्यात् और एक ओर एव। स्यात् नित्य: एव।

अपेक्षा और निश्चय से धर्म की प्रसाधनता—भैया ! यह पहाड़ की कठिन चढ़ाई है। चढ़ाई करने में रेल में २ इंजन लगते हैं, एक आगे और एक पीछे। यह दुर्गम है वस्तु स्वरूप का प्रवेश। दुर्गम है यह स्याद्वाद का सिद्धान्त। गाड़ी यहां चढ़ाई जा रही है। इसमें दो इंजन लगा दिया। आगे स्यात् और पीछे एव। तब वह धर्म की गाड़ी सम्हल रही है।। अगर एक ही इंजन लगादें तो गाड़ी लुढ़क जायगी। एव न लगाने से संशय आ गया और स्यात् न लगाने से एकान्त आ गया। यहीं घटाकर देख लो। एक बालक में जिसका नाम कुछ रख लो, मानों रमेश रख लिया है रमेश के बाप का नाम है अशोक। तो यह रमेश अशोक का लड़का ही है। ही लगावेंगे ना। कि भी लगावेंगे, कि यह अशोक का लड़का भी है? यह कितना अशोभनीय होगा। और अपेक्षा लगाते जावो तो चाहे बहुत सी बातें कहते जावो यह बालक अमुक का भांजा ही है, अमुक का भतीजा ही है। अपेक्षा लगाकर ही लगाना चाहिए तब स्याद्वाद का रूपक बनता है।

रागादिक की कृतिता पर स्याद्वाद का निर्णय—स्याद्वाद से जिसने विजय प्राप्त की है ऐसी वस्तुस्थिति अब दिखाई जा रही है कि वास्तव में बात क्या है? इस जीव के रागादिक भावों का कर्ता कौन है? जब भारी उसमें तर्कदृष्टि करके निहारते हैं तो ऐसा लगने लगता है कि ये राग भाव लावारिस हैं। इनका न जीव धनी हैं न कर्म धनी है, और हैं सो हैं। सो जैसे सड़क पर बीच में कोई बच्चा खेल रहा हो तो मोटर वाले कहते है कि तू घर का फालतू है क्या ? तू लावारिस है क्या ? तू मरने के लिए आया है क्या ? इसी तरह ये रागभाव फालतू हैं, लावारिस हैं, मरने के लिए पैदा हुए हैं अपनी धाक जमाने के लिए नहीं हुए। फिर भी उसको जब युक्तियों से सिद्ध करें, विज्ञान से देखें तो उसमें सब बातें समझनी पड़ेंगी ? उपादान क्या, निमित्त क्या ? कार्य कारण सब बातें जाननी पड़ती हैं, तब मर्म ज्ञात होता है।

त्रुटि की पहिचान की सावधानी—हम आपके राग भाव को देखकर यह सोचते हैं कि कैसी असावधानी और मूर्खता कर रहे हैं कि राग छोड़ा नहीं जाता। धरा क्या है। पर पर ही है, यह यह ही हैं। सो पर का फालतू जान लेना सरल हो रहा हैं और जो स्वयं पर बीत रही हैं सो स्वयं क्यों नहीं छोड़ देता, क्यों निर्विकल्प समाधि में नहीं आता। सो ऐसी बात औरों के लिए जल्दी समझ में आती है कि इसको इतना मोह करना न चाहिये, पर कर रहा है।

ऐसा ही अपने बारे में कुछ समझना चाहिए कि हम व्यर्थ का मोह कर रहे हैं, करना न चाहिए पर कर रहे है। त्रुटि भी यदि त्रुटि मालूम पड़ जाय तो यह भी एक ज्ञान है। और त्रुटि को सही मानते रहें तो यह भुलावा है भ्रम है, अज्ञान है। तो इन रागादिक भावों में निमित्त में प्रकृति है और त्रुटि जीव की है

परिणति जीव की है। इस बात को आगे सिद्ध किया जायगा। परन्तु पहिले कुछ अपने मन में तैयारी तो कर लें कि हमें राग छोड़ना ही है इन्हें रखना नहीं है ऐसा मन में निर्णय किए बिना हम आगे चलेंगे कहां तो अब इसी बात को आगे कहेंगे।

परिणमन और परिणामी का सम्बंध—यह जीव शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध है अपरिणामी तो भी है पर्यायार्थिकनय से देखने पर यह कथंचित् परिणामी होने के कारण और अनादिकाल की परम्परा से चले आए हुए कर्मोंदय के बस से यह जीव रागादिक उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है। जैसे कि स्फटिकमणी अपने स्वभाव से स्वच्छ है फिर भी उसमें स्वच्छत होने पर लगे हुए हरे पीले उपाधि के वश वह हरे पीले रंग को ग्रहण करता है। यदि यह जीव स्वयं कथंचित् परिणामी न हो और प्रकृति ही केवल जीव के रागादिक भावों का करनेवाला हो तो उसमें दोष आता है। एक तो यह कि जब आत्मा परिणामी नहीं हुआ तो आत्मा का अभाव हो जायगा। जो परिणमता नहीं है वह वस्तु ही नहीं है। दूसरा दोष यह है कि प्रकृति ने ही राग किया तो प्रकृति ही उसका फल भोगे। जीव का इसमें सम्बंध क्या।

विकार का आश्रय महाविकार—यदि यह कहा जाय कि रागादिक तो प्रकृति में ही होते हैं, प्रकृति का ही परिणमन है और यह जब भ्रम से उस परिणमन को अपना मान लेता है। तो वह भ्रम भी क्या प्रकृति का परिणमन है या जीव का परिणमन है ? यदि कहें कि भ्रम भी प्रकृति का परिणमन है तो भ्रमी भी प्रकृति को ही होना चाहिए और भ्रमी हो वही रागादिक को ग्रहण करे, और यदि कहे कि रागादिक तो प्रकृति के काम हैं और भ्रम होता है जीव में। तो जब रागादिक के पितामह भ्रम की मलिनता जीव में मान लें तो रागादिक की कहानी क्या । राग भाव तो छोटी मलिनता है, भ्रम बड़ी मलिनता है। यदि बड़ी मलिन भ्रम की बात जीव में माननी पड़े और रागादिक भाव न माने तो यह कहां का विवेक है।

परिणमन योग्य में ही परिणमन—भैया ! जिसमें योग्यता होती है उसमें ही परिणमन होता है। यह भींत खड़ी है, खम्भे खड़े हैं। इनमें प्रतिबिम्ब की योग्यता नहीं है। यो काठ, पेड़ आदि प्रतिबिम्ब की योग्यता से रहित हैं, तो कितनी ही चीजें सामने पड़ी रहें इनमें प्रतिबिम्ब नहीं आता, इस प्रकार ये रागादिक जो झलकते हैं और होते हैं उनकी योग्यता जीव में है यह कथंचित् परिणामी है, उस प्रकार का परिणम सकता है इस कारण इसमें ही रागादिक होते हैं, प्रकृति में रागादिक नहीं होते हैं क्योंकि प्रकृति में रागादिक परिणमन की शक्ति का अभाव है, इस ही सम्बंध में अब इस शंका का विशेष वर्णन किया जा रहा है। शंकाकार कहता है कि हम तो यह देखते हैं कि कर्म का उदय हो तो रागादिक मिलते हैं, कर्मों का उदय न हो तो रागादिक कहीं नहीं मिलते। तो हम तो जानते हैं कि इस विभाव परिणाम का करने

वाला कर्म ही है ऐसी शंकाकार की शंका है उसका वर्णन किया जा रहा है।

गाथा 332

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।।३३२।।

ज्ञान और अज्ञान में कर्मकृतता का पक्ष—यह जीव कर्मों के द्वारा ही अज्ञानी किया जाता है, और कर्मों के ही द्वारा ज्ञानी किया जाता है, शंकाकार सब कह रहा है अपनी बात शुरू से अन्त तक कह रहा है इस कथन में यह खूब ध्यान रखना। इस अज्ञान को कर्म करते हैं। ज्ञानावरण का उदय आया और वहां जीव अज्ञानी बन गया। ज्ञानावरण का क्षयोपशम हुआ कि लो ज्ञानी बन गया। तो हम तो यह समझते हैं कि कर्मों के ही द्वारा जीव अज्ञानी किया जाता और ज्ञानी किया जाता।

भाग्य से ज्ञान की प्राप्ति की लोक प्रसिद्धि—जैसे कोई लोग कहने लगते हैं कि भाग्य में लिखा है तो मोक्ष मिल जायगा हां अरे भाग्य में बढ़ने से मोक्ष मिलता है कि भाग्य के फूटने से मोक्ष मिलता है ? भाग्य फूटें तो भगवान बनता है, और जब तक भाग्य है तब तक संसार में रहता है। भाग्य माने कर्म। तो यह प्रशंसा है मगर किसी से कहा जाय कि तेरा भाग्य फूट जाय तो यह तो उसका हित चाहा जा रहा है। लेकिन सुनकर लोग उसे गाली मानते हैं। कुछ खराब हो गया उसका तो कहते हैं भाग्य फूट गया। अरे फूटना क्या आसान बात है कि जिसका भाग्य फूटा उसके तीन लोक के इन्द्र चरणों में झुकते हैं। लोग अज्ञान में कहते हैं कि भाग्य में बदा होगा तो मोक्ष मिल जायगा। भाग्य से ही ज्ञान मिलता है अब तो ऐसा कहने वाले हैं। यदि भाग्य है तो ज्ञान है। भाग्य से मिलता है ज्ञान। यह विदित नहीं है कि भाग्य के क्षय होने से ज्ञान मिलता है।

ज्ञान अज्ञान की कर्मकृतता का पक्षोपसंहार—ज्ञानावरण कर्म के उदय होने पर जीव अज्ञानी बनता है। देखा है कहीं कि ज्ञानावरण नामक कर्मों का उदय नहीं हो और जीव अज्ञानी बन जाय ऐसी कहीं परिस्थिति देखी हैं और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो और जीव यहां ज्ञानी बन जाय ऐसी कहां परिस्थिति देखी है, इसलिए हम जानते हैं कि कर्म ही जीव को ज्ञानी बनाते हैं और कर्म ही जीव को अज्ञानी बनाते हैं।

निद्रा व जागरण की कर्म कृतता का पक्ष—कर्म ही जीव को सुलाता है, कर्म ही जीव को जगाता है। यहां सुलाने कौन आयगा ? बच्चे को यदि उसकी मां ने थपथपा दिया तो उसे नींद आ जाती है। तो क्या मां ने सुला दिया या उस बच्चे का छोटा भाई पकड़कर झकझोर दे तो क्या छोटे भाई ने उसे जगा दिया निद्रा नामक दर्शनावरण कर्म का उदय हुआ तो यह जीव सो जाता है तीव्र उदय से या उदीरणा से। निद्रा का उदय सदा रहता है। पर निद्रा सदा कौन लिया करता है ? जब निद्रा का तीव्र उदय या उदीरणा हो तो निद्रा आती है। तो देखो प्रकृति ने ही सुलाया ना। तो निद्रा नामक दर्शनावरण का उदय बिना जीव सोता नहीं और निद्रा दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के बिना जीव जगता नहीं है इसलिए सुलाने वाली भी कर्म प्रकृति है और जगाने वाली भी कर्म प्रकृति है। यह सब शंकाकार कह रहा है।

वस्तु के स्वपरिणाममयता के कथन का विज्ञान विस्तार—सिद्धांत क्या है भैया ! सुलाना किसका नाम है, सुलाना यदि एक बेहोशी का नाम हो, निन्द्रा का नाम हो तो ऐसी बेखबर परिणति कर्म की नहीं हो रही है, वह जीव की हो रही है, जितना पदार्थ है उतने में ही परिणमन तको। निमित्त पाकर यद्यपि विभाव होते हैं, निमित्त पाए बिना नहीं होते फिर भी जरा द्रव्य के स्वरूपास्तित्व को तो निरखो। पदार्थ का कोई भी परिणमन कोई किसी अन्य पदार्थ से नहीं आता। सर्व विशुद्ध अधिकार में सबसे पहिले ही यह बात बता दी कि गई प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणामों से तन्मय रहा करता है। अब इस एक ही बात में अर्थ निकालने लग जावें। जब प्रत्येक पदार्थ अपने परिणामों से तन्मय है तो दूसरा क्या करने वाला है दूसरे का। और दूसरा दूसरे का क्या भोग सकता है। दूसरा किसी दूसरे का अधिकारी कैसे है? सर्व विकल्पों से रहित केवल एक द्रव्य ही दिखता है।

शंकाकार ही अपनी शंका का पोषण करता जा रहा है इन सब परिणमनों में जीव का कुछ नहीं है। जीव तो बेचारा चैतन्य स्वरूप है और जितनी भी यहां खटपट होती है ये सब कर्मों के द्वारा की हुई हैं, और भी यह एक प्रश्न कर रहा है।

गाथा 333

कम्महि सुहाविज्जदि दुक्खविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव।।३३३।।

सुख दुःख की कर्मकृतता का पक्ष—कर्म के ही द्वारा यह जीव सुखी किया जाता है कर्म के ही द्वारा यह जीव दु:खी किया जाता है, कर्म के ही द्वारा जीव मिथ्यात्व को लिवाया जाता है। और कर्मों के ही द्वारा यह जीव असंयम को प्राप्त होता है बात यद्यपि ठीक है। साता वेदनीय के परिणाम उदय आए बिना कौन जीव सुखी होता है इस संसार के सुख से ? क्या जीव के सुखी होने में कर्म प्रकृति निमित्त नहीं है। यदि नहीं है तो यह वैषचिक के सुख जीव का स्वभाव बन जायगा। पर जिसके आशय में यह बात पड़ी हो कि जीव सुखरूप नहीं परिणमता, सुख रूप भी कर्म परिणमता है और इस जीव में वह परिणमन मात्र झलकता है। ऐसा जिनका आशय है उनकी ओर से यह शंका है कि कर्म ही जीव को सुखी करते हैं, अर्थात् सुख परिणमन भी प्रकृति का है जीव का नहीं है।

अपरिणामैकान्त का प्रतिषेध—इस कर्मैकान्त के सिद्धांत का खण्डन किया तो गया है आगे, पर यह जान लो कि जो अपरिणामी सिद्धान्त है उसका खण्डन है। कहीं निमित्त भाव का खण्डन नहीं है। निमित्त के खण्डन से तो जीव की दुर्गति होगी, स्वभाव बन बैठेगा पर सिद्धान्त ऐसा मानते हैं—प्रकृते तस्मादपिर्महान ततोऽहंकास्तस्माद गणश्च षोडषक:। षोडषकात्पंचभ्य:--पंचभूतानि। उसका यह प्रकरण है। यहां कोई जैन सिद्धान्त नहीं बोला जा रहा है प्रकृति से तो महान् होता है। महान् मायने बुद्धि। सबसे पहिले प्रकृति ने विकार किया तो ज्ञानरूप परिणमन किया, यह प्रकृति का विकार है क्योंकि ये सर्व दिक्कतें ज्ञान से शुरू हुई। न जानते तो बात ही कुछ न थी। तो ज्ञान द्वारा यह सब गड़बड़ी हुई ऐसा सांख्य सिद्धान्त है। प्रकृति से पहिले महान् पैदा हुआ, बुद्धि पैदा हुई, ज्ञान विस्तार पैदा हुआ, फिर इससे अहंकार बना। यह सारी सृष्टि प्रकृति का ही विकार है, इसको सिद्ध किया जा रहा है।

प्रकृति परिणामैकान्तवाद से निज के प्रमाद की सुरक्षा—घमण्ड पैदा हो अहंबुद्धि हो, यह मैं हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यंच हूँ आदि अहंकार आए तब इससे अनर्थ उत्पन्न होता है। इन्द्रिय ज्ञान-जगह कर्म इन्द्रिय और ज्ञान इन्द्रिय। हाथ पैर आदि का चलना अंग वगैरह का उठना ये सब कर्म इन्द्रिय हैं, और स्पर्शन, रसना आदि का ज्ञान होना यह सब ज्ञान इन्द्रिय है। फिर इन इन्द्रिय के बाद ५ विषय उत्पन्न हुए स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द और इससे फिर ५ ये भूत पैदा हुए जो दृश्यमान हैं सबको दिखते हैं। इस तरह यह सारा जगजाल प्रकृति से उत्पन्न हुआ ऐसा जिनका सिद्धान्त है उनकी ही बात यहां चल रही है। कहीं यह बात नहीं ग्रहण करना है कि जब अज्ञान होने को होता है होता ही है, जब राग होने को होता है होता ही हैं। अरे तो इस तरह स्वच्छता से वह अगर कर रहा है तो वह स्वभाव बन जायगा।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवाद का वस्तुस्वातन्त्र्य साधन में सहयोग—निमित्त पाये बिना यह विभाव नहीं होता है। सिद्धान्त से तो स्वभाव की सुरक्षा है। जीव स्वत: स्वरसत: रागादिक भावों को करता नहीं है, किन्तु उपाधि का निमित्त पाकर अपनी परिणति से रागादिक परिणमनों को करता है, स्वभाव की भी रक्षा हुई और वस्तु की स्वतन्त्रता भी प्रकट हुई। वस्तु अपनी ही परिणमन से परिणमता है, सर्वत्र यह वस्तु की स्वतंत्रता है। जीव पराधीन भी बनता है तो आजादी से पराधीन बनता है या पराधीनता लेकर। पराधीनता लेकर पराधीन नहीं बनता। यहां सांख्य सिद्धान्त कहा जा रहा है कि कर्म द्वारा ही जीव सुखी किया जाता है। उसमें आशय क्या पड़ा है कि कम ही सुखरूप परिणमन करता है जीव नहीं करता है। पर बुद्धि के आश्रय से पुरूष में सुख दु:ख राग आदि की बात आया करती है ऐसा सांख्य सिद्धान्त है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है कि अशुद्ध परिणक्य सकने का उपादान वाला जीव कर्म उपाधि का निमित्त पाकर स्वयं की परिणति से ही सुखी और दु:खी होता है।

कर्तत्ववाद के भ्रम के अवसर का योग—भैया ! लोगों को कर्ता कर्म का जो भ्रम बन गया है कि कोई पदार्थ पर का कर्ता है, इस भ्रम के लिए उनको मूल में बात क्या मिली जिससे उन्होंने बढ़कर भ्रम बना लिया ? भूल में बात निमित्त नैमित्तिक सम्बंध की मिली। उससे बढ़कर उन्होंने भ्रमरूप बुद्धि करली कि हमने ही यह किया। एक बालक बीस हाथ दूर खड़ा है, दूसरा बालक दूर से ही अंगुलि मटका कर या जीभ निकाल कर चिढ़ा रहा है तो यह दूसरा बालक दु:खी हो रहा है। तो भला यह बतलाओ कि यह बच्चा जो दु:खी हो रहा है सो अपनी परिणति से दु:खी हो रहा है या बड़े लड़के की परिणति से दु:खी हो रहा है? बड़ा लड़का इसे चिढ़ा रहा है या छोटा लड़का चिढ़ रहा है ? यह लड़का चिढ़ रहा है बड़ा लड़का चिढ़ा नहीं रहा है। वह तो अपनी अंगुलि में अंगुलि मटका रहा है। यह बालक विकल्प बनाकर दु:खी हो रहा है।

संकेतों का आशय—एक बार एक राजा ने यह सोचा कि हम अपनी लड़की की शादी बड़े बुद्धिमान लड़के से करेंगे। सो पण्डितों से कहा कि जावो बुद्धिमान लड़का ढूंढ लाओ। सो कुछ पंडित लोग ईर्ष्या रखते थे वे चाहते थे कि किसी मूर्ख से इसकी शादी कराई जाय। सो वे चले मूर्ख लड़के की खोज में। देखा कि एक पेड़ पर एक लड़का चढ़ा है और डाली के अग्रभाग पर बैठा हुआ कुल्हाड़ी चला रहा है। तो अब बताओ कि अगर डाली कट जायगी तो वह गिरेगा कि नहीं ? गिर जायगा। सो सोचा कि इससे मूर्ख और कहां मिलेगा। कहा कि चलो तुम्हारी शादी राजपुत्री से करवायेंगे। तुम वहां चुपचाप बैठना, मुँह से जरा भी न बोलना। वह चला गया संग में। राजदरबार में भरी सभा में एक किनारे मूर्खदास भी बैठ गए। तो पंडित लोग कहते हैं कि यह कवि पंडित मौन व्रत रखे हैं सो संकेत में करो प्रश्नोत्तर तब लड़का और लड़की के बुद्धि का परिचय मिलेगा। दोनों का परिचय हुआ। सो पण्डितों ने कहा कि पहले लड़की प्रश्न

करे। तो लड़की ने खड़े होकर एक अंगुलि उठायी। इस आशय से कि जगत में केवल एक ही ब्रह्म है। तो उस मूर्ख ने सोचा कि यह कह रही है कि मैं एक आँख फोड़ दूंगी। तो उस मूर्ख ने दो अंगुलि उठायी, उसका मतलब था कि मैं दोनों आंखें फोड़ दूंगा। पंडित लोग वहां अर्थ लगाने को बैठे थे क्योंकि जबरदस्ती शादी करवाना था उस मूर्ख लड़के के साथ। सो पंडितों ने कहा कि ये महाकवीश्वर यह कह रहे हैं कि जगत में केवल एक ब्रह्म ही नहीं है साथ में उसके माया भी है। तो ब्रह्म और माया ये दो तत्व हैं। फिर कहा लोगों ने कि दूसरा प्रश्न कीजिये, हमारे महा पण्डितेश्वर जी जवाब देंगे। लड़की ने पाँच अंगुलियाँ उठाई। उसका अर्थ यह था कि यह सब पंच भूतात्मक हैं। तो उसने पांचों अंगुलि देखकर समझा कि यह कहती है कि तमाचा मारूंगी। सो उसने मुट्ठी बांधकर मुक्का मारने को उठाया। उसका मतलब था कि अगर तू तमाचा मारेगी तो मैं मुक्का मारूंगा। यह सब लोगों ने उसे सिखा दिया था कि चुप रहना मुख से बोल दिया तो पोल खुल जायगी। इसलिए जो मूर्ख आदमी है उसे सभा में मौन व्रत लेकर बैठना चाहिये लोग उसे बुद्धिमान जानेंगे। तो लोगों ने अर्थ लगाकर कह दिया कि दूल्हा जी का कहना है कि पंचभूत हैं तो जरूर, पर सबका मूल आधार एक अद्वैत है। तो ऐसे वचनों के भी अनेक अर्थ होते हैं पर उनमें आशय तका जाता है कि इसका आशय क्या है।

विरूद्ध आशय का खण्डन—भैया ! यह सब निमित्त दृष्टि से बोला जाय तो इसमें कोई सिद्धान्त विरूद्ध बात नहीं आती। हाँ हाँ साता वेदनीय के उदय बिना जीव सुखी नहीं हो सकता असाता वेदनीय के उदय बिना जीव दुःखी नहीं हो सकता लेकिन शंकाकार का आशय यह नहीं है। आशय उसका यह है कि प्रकृति ही सुख और दु:ख रूप परिणमती है। उस परिणमन को यह जीव भ्रम से मानता है कि मेरा परिणमन है। जीव अपरिणामी है वह परिणमता नहीं है। यह इस आशय में पड़ा हुआ है। उस आशय का खण्डन किया जाता है।

आशय के ही खण्डन मण्डन की शक्यता—एक बार कहीं शास्त्रार्थ हुआ तो पक्ष रखा कि ईश्वर जगत का कर्ता है तब प्रतिवादी कुछ खण्डन करने लगा ? तो वह वादी बोलता है कि पहिले यह बताओ कि ईश्वर जगत का कर्ता है यह बात है या नहीं। अगर यह बात है तो खण्डन तुम कैसे कर सकते और यदि यह बात नहीं हैं तो खण्डन किसका तुम करते हो तो वह उत्तर देता है कि हम ईश्वर का खण्डन नहीं करते, जगत कर्ता का खण्डन नहीं करते किन्तु ईश्वर सद्भूत एक पदार्थ जगत का कर्ता है ऐसा जो तुम्हारा अभिप्राय बना है हम उस अभिप्राय का खण्डन कर रहे हैं। तो आशय हर एक बात में देखा जाता है।

आशय विज्ञान में सन्मान अपमान—देहाती लोग आपस में जब मिलते हैं बहुत दिनों में मित्र-मित्र या साढ़-साढ़ या कोई कोई तो किसी तरह से मिलते हैं पर ऐसे भी लोग मिलते हैं कि एक दूसरे के दो चार तमाचे मारकर मिलते हैं। यह उनकी जुहारू होती है। न विश्वास हो तो देख लो। उनका मिलना इसी ढंग का है। कोई जमाने में कहीं की सभ्यता में विनय पूर्ण व्यवहार होता था पर जैसे-जैसे समय गुजरता है। वैसे ही वैसे परिवर्तन होता रहता है। पहिले समय में लोग विद्वानों को गुरूवों को दंडवत् नमस्कार करते थे दंडवत् के मायने जैसे डंडा पड़ा है तो बिल्कुल लेटा पड़ा है ना ? तो डंडे की तरह लेट करके नमस्कार करते थे। फिर दंडवत् तो रही नहीं। घुटने टेककर सिर नवा कर नमस्कार हुआ फिर घुटने टेकना सिर नवाना दूर रहा फिर घुटने टेककर हाथ जोड़ दिया। यह भी दूर हुआ तो खड़े ही खड़े पेड़ की तरह सिर झुका दिया। यह भी दूर हुआ अब मस्तक में चार अंगुलि लगाकर नमस्कार कर लिया। यह भी छूटा तो रह गया एक अंगुलि का गुडमार्निंग। यह भी छूटा तो मुख से बोल दिया जय जिनेन्द्र। यह भी छूटा तो मुख से एक दूसरे ने बोल दिया बाबू जी, हाँ सेठजी। वहाँ भगवान का भी नाम छूटा, फिर और समय गुजरा तो उन्होंने मुस्करा दिया। अब यह भी नौबत आ गई कि उनने गाली सुना दिया उनने सुना दिया। देख लो साढू साढू में बहनोई साले में कैसा नमस्कार होगा। तो इन सब परिस्थितियों में भी आशय जिसका अच्छा है उसका बुरा नहीं मानते हैं और आशय अच्छा नहीं है तो बुरा माना जाता है।

आशय की शुद्धता में विरूद्ध व्यवहार से भी अविषाद—अभी बच्चा छत पर या दरवाजे जैसे स्थान पर खेलता हो जहां से गिरने की नौबत आए तो माँ उसे कितनी गालियां सुनाती हैं, नासके मिटे तू मर न गया पैदा होते ही। ऐसी गालियां सुनकर भी बच्चा बुरा नहीं मानता है। क्योंकि वह जानता है कि अम्मा ही तो हैं हमारी और कोई दूसरा आदमी थोड़ी सी भी बात कह दे तो वह रोने लगता है, क्योंकि वह समझता है कि इसका आशय खोटा है। तो यहां आशय का ही खण्डन किया जा रहा है।

शंकाकार का मूलसाध्य—शंकाकार कहता है कि कर्म ही जीव को सुख दु:ख देता है इसमें यह आशय भरा है कि कर्म ही सुख दु:ख रूप परिणमते हैं जीव तो अपरिणामी है। मूल से बात पकड़ लो तब यह समझ में आयगा। इसी प्रकार कर्म ही जीव को मिथ्यात्व रूप बनाते है। और कर्म ही जीव को असंयम रूप बनाते हैं। इस प्रकार यहां शंकाकार जीव के समस्त परिणमनों का कर्ता बता रहा है। अब जीव के परिभ्रमणादि के कर्तृत्व की बात भी कर्म पर लादी जा रही हैं।

गाथा 334

कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।

कम्महि चेव किज्जदि सुहासुंह जित्तियं किंचि।।३३४।।

जीव परिभ्रमण के कर्मकृतला का पक्ष—कर्म को जीव भाव का कर्ता मानने वाले सांख्यानुयायी प्रश्न कर रहे हैं। इस प्रकरण में इतना ध्यान देना कि कर्म जीव के भाव को करते हैं। ऐसा कहने में उपादान दृष्टि उनकी बनी है, कर्म ही जीव भाव रूप परिणमते हैं या यों कहो रागादिक रूप परिणमते हैं। उसको जीव अपना मान लेता है ऐसा आशय है शंकाकार का। शंकाकार अपनी नई-नई बातें रखता हुआ चला जा रहा है कि देखो कर्म ही जीव को ऊपर नीचे भ्रमण करा रहे हैं। बोलो लिखा है ना जैनों के ग्रन्थों में कि आयु पूर्वी कर्म का उदय आए तो यह जीव कहीं से भी मरकर जन्म लेने के लिए पहुंच जाता है हाँ लिखा तो है, तो हुआ ना ठीक कि कर्म ही जीव को भ्रमाता है ? और बड़े विस्तार से भी लिखा है। इसको कहते हैं विग्रह गति।

विग्रहगति में गमन पद्धति—नवीन विग्रह पाने के लिए जो गति होती है उसका नाम है विग्रहगति। विग्रह का अर्थ है शरीर। लोग अब भी किसी का यदि हृष्ट पुष्ट शरीर हुआ तो कहते हैं कि इनका विग्रह तो अच्छा है। तो नवीन विग्रह पाने के लिए जीव का जो गमन होता है उसका नाम है विग्रह गति। और जीव मरने के बाद अर्थात् ,शरीर छोड़ने के बाद नया शरीर पाने के लिए जो जाता है सो दिशाओं में जाया करता है। आकाश की श्रेणियां हैं। उन श्रेणियों के अनुसार गमन होता है। पूर्व से उत्तर जाना हो तो सीधा न जायगा। पूरब से कुछ दूर पश्चिम तक आकर फिर उत्तर को मुड़ेगा। पूरब से पश्चिम उत्तर से दक्षिण ऊपर से नीचे जो सीधी आकाश श्रेणियां हैं उन मार्गों से गमन होता है। तो ऐसी कई जगह हैं कि जहां मुड़कर जीव को जाना पड़ता है। और ऐसी मोड़ इस जीव को अधिक से अधिक तीन लग सकते हैं तो मोड़ों को लेकर जो गमन होता है उसे कहते हैं विग्रहवती विग्रहगति। अर्थात् मोड़ा लेकर होने वाली विग्रह गति। विग्रहगति में आनुपूर्वी का उदय होता है। नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे कहां से कहां जीव का गमन होता हैं। यह जीव का स्वभाव है यों डोलते रहना। यह तो कर्म ही कराता है ना। तो कर्म ही जीव को नीचे ऊंचे की दिशाओं में सर्वत्र घुमाता है।

संसारी जीव के सूक्ष्म और स्थूल शरीर—भैया ! इस जीव के साथ दो शरीर लगे हैं—सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। सूक्ष्म शरीर तो एक भव छोड़ने के बाद भी साथ चिपटा रहता है। वह एक क्षण को भी अलग नहीं होता है। और जब अलग होता है तो सदा के लिए अलग होता है उस सूक्ष्म शरीर का नाम है तैजस शरीर व कार्माण शरीर। औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर ये है स्थूल। स्थूल शरीर के अलग हो जाने का नाम है मरण। यह तैजस और कार्माण शरीर क्या है ? कि जो जीव के साथ लगा है कार्माण सो कर्म

का पिण्ड है, कर्म और कार्माण शरीर में इतना अन्तर है जितना कि ईट और भींट में ईटें पड़ी हुई हैं और वे ही ईटें सिलसिले बार ढाँचे के रूप में जड़ दी जायें उसका नाम हो गया भींट तो कर्म है, कर्मों की दृष्टि से वे कर्म हैं समूह हैं, बहुत हैं, संग्रह है पर उन कर्मों से पाये हुए शरीर के अनुसार या फैले जीव के अनुसार उनका ढांचा बन जाना यह है कार्माण शरीर और कार्माण क्या सभी शरीरों में तेज देने वाला होता है तैजस शरीर।

सूक्ष्म शरीर की अप्रतिघातिता—दोनों सूक्ष्म शरीर वज्र से भी नहीं अटकते। बड़ा काँच का महल भी बना दिया जाए, जहां से रंच हवा न आए और जाने कि मरण हार है। उसको उसके अन्दर रख दिया जाए। फिर देखो कि यह जीव कहां से जाता है। तो काँच फूटेगा नहीं और यह जीव चला जायेगा। और मान लो कदाचित काँच फूट जाय तो जीव के टक्कर से काँच नहीं फूटा किन्तु हवा रुकी है तो प्राकृतिकता से फूट जाय, सूक्ष्म शरीर किसी से नहीं रुकता। सूक्ष्म शरीर सहित यह जीव जाता है।

पूर्व देहत्याग व नवीन देहधारण अन्तरकाल—मरने के बाद तुरन्त ही यह जीव जन्म स्थान पर पहुंच जाता है। अधिक से अधिक देर लगेगी तो तीन समय की लगेगी। चौथे समय में अवश्य पहुंच जायेगा। जीव का जन्म स्थान पर पहुंचना किसी तिलक वाले व्यक्ति के आधीन नहीं है कि जब तक १० लोगों को जिमा न दिया जाय तब तक जीव चलता रहेगा। और जब १० आदमियों को जिमा दिया जायगा। तब जीव जन्म स्थान पर फिट हो जायेगा ऐसा नहीं है लोग परीक्षा करने के लिए कि आखिर यह पैदा कहां होता है जीव अथवा ये दद्दा बब्बा, सो चूल्हे की राख छोड़ देते हैं और सुबह देखते हैं कि यह राख में चिन्ह कौन सा बना है, जिससे जान जाए कि यह कहां पैदा हुआ है। डुकरिया पुराण की कथा है। डुकरिया को लाज लिहाज नहीं रहती, जहां चाहे बोला करती है नई बहुओं को उनका बकना नहीं सुहाता सो वे डुकरिया पुराण कहा करती हैं। सो वे डुकरिया सुबह राख में देखती है कि कौन सा चिन्ह बना है।

एक सूक्ष्म दर्शी यंत्र होता है ना। उससे कुछ भी देखा तो हिलता डुलता ऐसा दिखता है। तो कह बैठते हैं कि इसमें कीड़े हैं। यद्यपि कीड़े सब दिखते हैं ऐसा नहीं है कि उसमें यह न दिखे कि चीजें न हलती हों। लोक में बड़े सूक्ष्म अजीब ढेर भी पड़े हैं पतले-पतले कूड़ा करकट भी इधर उधर फिरते रहते है। जहां देखते हैं कि साफ है वहां उस पोल में भी बहुत सा कूड़ाकरकट फिर रहा है पर इतना पतला है कि मालूम नहीं देता। कहीं जरा सा छेद हो की किरणों का आगमन हो तो उस जगह किल बिलाते हुए दिख जायेंगे। तो फट कह देते हैं कि देखो यहां पर बहुत से कीड़े फिर रहे हैं। कीड़े होते भी है और नहीं भी होते है। वे जीव पुद्गल ही फिर रहे हैं, सूक्ष्म मैटर तो डोलत हैं ना तो जो डोले उसे जीव मान लिया।

पुनर्भव विज्ञान की भ्रमरूढ़ियाँ--यों ही राख में चूहा, छिपकली, झींगुर निकल गया हो, तो उससे बने हुए चिन्ह को देखकर कह देते है कि जीव अमुक हुआ है। ये बातें झूठ हैं। जीव तो मरने के बाद ही तुरन्त जन्म ले लेता है, तेरई खाने पीने का अधिकार तो मुनियों को था अब उसके एवज में उन्हें कौन

पूछता। बिरादरी के लोगों को और लोगों को ही खिलापिला देंगे। १२ दिन तक मुनियों को आहार देने का अधिकार नहीं रहता सो १३ वें दिन बड़ी खुशी से चौका लगाकर आहार देने के लिए लोग खड़े रहते थे। इसलिए कि भाई आज पात्रदान करने का मौका मिला, १२ दिन मौका नहीं मिला। तेरहवें दिन आहार कराने का मौका मिला है। कहीं ऐसा नहीं है कि जब तक पंगत न करे तब तक जीव घूमता रहेगा।

विग्रह गति के उभयभव का सन्धिपना—जीव आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना ऊपर नीचे यत्र तत्र नहीं डोलता। इससे ज्ञात होता है कि कर्म ही जीव को यहां वहां घुमाता रहता हैं, कोई घोड़ा है और उसे मरकर बनना है मनुष्य तो उसके आगे के भव से सम्बंधित मनुष्य गत्यानुपूर्वी का उदय आ गया उस मनुष्यगत्यानुपूर्वी के उदय में कहलाएगा तो मनुष्य, रास्ते में विग्रह गति में और आकार रहेगा उस घोड़े का। यह तबादले का समय है। पहिला शरीर छूटा और नया शरीर मिलेगा, उसके बीच की जो विग्रह गति है उस विग्रहगति में दोनों के कुछ न कुछ समय की बात रहती है याने उदय तो आगे वाला रहा और आकार पहिले वाला रहा।

उभयभव सन्ध्या का एक दृष्टांत—जैसे जब कोई पुराना अफसर नये अफसर को चार्ज देता है तो चार्ज देते समय दोनों अफसरों का कन्ट्रोल रहता है। चार्ज देने पर पुराने अफसर का कुछ नहीं रहता। यों ही नए स्थान पर पहुंचने पर पुराने का कुछ नहीं रहता है और देखो जब चार्ज सम्हाला जा रहा है तो लोगों की दृष्टि नए अफसर पर ज्यादा रहती है और वह पुराना अफसर जो बहुत दिन तक रहा उससे लोगों की दृष्टि हट जाती है क्योंकि अब काम पड़ेगा इस नए नवाब साहब से। तो इसी प्रकार विग्रह गति में प्रमुखता रहती है नवीन गति की। नवीन गति का उदय नवीन आयु का उदय और मनुष्य गत्यानुपूर्वी नामवाली आयुपूर्वी का उदय। केवल पुराने का इतना अभी रोब है कि जिस शरीर से आया था उस शरीर के आकार जीव के प्रदेश रहते हैं सो वह जीव जितना भ्रमण कर रहा है यह सब कर्म की प्रेरणा से कर रहा है। कर्म ही करा रहे हैं, ऐसा सांख्यानुयायी सिद्धांत की बात चल रही है।

दो द्रव्यों में परस्पर कर्तृकर्मत्व का अभाव—जैसे हाथ में घड़ी उठायी और दूसरी जगह धर दी, देख रहे हो ना, यह बात ठीक है ना। हाथ ने ही घड़ी उठायी और दूसरी जगह धर दी। लगता तो है ऐसा कि हाथ ने एक जगह से घड़ी को उठाकर दूसरी जगह पर धर दी, पर इसमें कुछ विचार करो, क्या यहां घड़ी में जो कुछ हुआ है परिणमन क्रिया जाने आने की बात क्या इसे हाथ ने किया है, अर्थात् क्या यह हाथ का परिणमन है सो तो नहीं है, क्योंकि यदि हाथ का ही परिणमन घड़ी का परिणमन बने तो दो द्रव्य

नहीं रह सकते। तब क्या है। हाथ वहां निमित्त मात्र है और हाथ की क्रिया का निमित्त पाकर इस घड़ी में इसकी क्रिया गति हुई। अपने आपके स्वरूपास्तित्व को निरखो तो हाथ ने हाथ में काम किया। घड़ी ने घड़ी में काम किया परन्तु इस तरह की क्रिया की परिणति से परिणत हाथ का निमित्त मात्र पाकर यहां यह परिणमन हुआ। बात तो ऐसी ही थी कि कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव में जीव के विभाव परिणमन होते हैं पर इसे निमित्त नैमित्तिक सम्बंध में न मानकर उपादान उपादेय सम्बंध स्वीकार करके यह जिज्ञासा चल रही है कि लो यह कर्म ने ही तो जीव को उल्टा सीधा करके यहां वहां फेंक दिया।

शुभअशुभ परिणाम की कर्मकृतता का पक्ष—अच्छा और भी आगे देखो जितना शुभ अशुभ किया जा रहा है वह कर्म के द्वारा ही तो किया जा रहा है। क्या शुभ और अशुभ के उदय बिना कोई शुभ और अशुभ परिणाम होता है। यदि शुभ राग प्रकृति के बिना शुभ परिणाम होने लगे तो सिद्ध में भी होने लगे। अशुभ राग के बिना यदि अशुभ परिणाम होने लगे तो सिद्ध में भी होने लगे। ऐसे गुणों का भी हम क्या करें जिसमें सन्देह बना रहेगा, न जाने कब विभाव उठ बैठेगा, क्योंकि उपाधि उदय निमित्त तो कुछ रहा ही नहीं। यह जीव ही कर बैठता है तो जब चाहे शंका रहेगी कि न जाने कब विभाव परिणमन कर बैठेगा इसलिए यह बात मानना चाहिए कि कर्म ही जीव को शुभ परिणाम कराते और कर्म ही जीव का अशुभ परिणाम कराते हैं। देखो बोलने में कुछ हर्ज नहीं मगर यह आशय उपादान उपादेय का है।

विभाव के कर्मकतृत्व में श्रुति का प्रमाण—शंकाकार कह रहा है कि इतना ही नहीं, अन्य प्रकरण भी देखिए। जैसे इस जीव का अपने किसी विभाव रूप-परिणमन हो रहा हो उनकी जुदी-जुदी प्रकृतियाँ हैं, आगम में बताया गया है १४८ प्रकृतियों का नाम। उसका मतलब ही क्या है। वे ही सब कराती हैं इस कारण इतना तो निश्चय हो रहा है कि कर्म ही सब करता है।

गाथा 335

जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारगा होंति आवण्णा।।३३५।।

विभाव के कर्मकतृत्व का निष्कर्ष—जिस कारण कर्म ही कर्ता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, तो हम तो यह जानते हैं कि इस कारण समस्त जीव अकारक ही हैं, अकर्ता हैं। देखा ना, किसी को गर्मी प्रकृति की जो बीमारी हुई तो उसने ठंडी तेज दवा पीली, सो लो, अब ठंडी का रोग हो गया। आत्मा कर्ता है, इस बात को मिटाने के लिए निमित्त रूप कर्म की बात बतायी गई थी। अब उसका इतना अधिक

आलम्बन कर गया कोई कि आत्मा को अपरिणामी देखने की नौबत आ गई। अब आत्मा अकारक हैं। एक कोई देहाती पटेल था, तो लड़के की बारात ले गया लड़की के दरवाजे। टीका करने लगा लड़की वाला तो लड़की का बाप दूल्हा का टीका ११ रू देकर करने लगा तब लड़के का बाप बोलता है कि इतना नीचा गिराकर लड़के का टीका न होगा। टीका होगा ५०१ रू का। आपस में दोनों में लड़ाई बढ़ गई। तब बाप ने कहा देखो या तो टीका होगा ५०१ रू का नहीं तो तुम्हारे ही सामने दूल्हा को आग में जलाये देते हैं। अरे यह क्या बात है। देखो आत्मा को सीधे-सीधे कर्ता मानते जाओ और नहीं मानते हो तो आत्मा को अपरिणामी मान लेते है। जो कुछ करते हैं सो कर्म करते हैं।

विरूद्ध वृत्ति में अध्यात्मवाद का अभाव—एक कोई पण्डित जी अध्यात्मवाद एक शिष्य को पढ़ाते थे। पण्डित जी में आदत मिठाई खाने की ज्यादा थी, उन्हें रसगुल्ला बहुत अच्छे लगते थे, तो जिस चाहे दूकान पर खालें। तो शिष्य कहे कि महाराज यह क्या करते हो ? तो वह कहे कि हम कुछ नहीं करते हैं, सब कुछ कर्म ही करते हैं। एक दिन ऐसी दूकान पर पहुंच गया कि जहां खराब चीजें भी बिकती थी, मांस वगैरह और मिठाई भी बिकती थी। उसी दूकान पर खड़े-खड़े वह खाने लगे। पंडित जी, तो शिष्य ने क्या किया कि उसके गाल में एक तमाचा मारा। गुरु कहता है कि यह क्या कर रहे हो ? कहता है कि महाराज कर क्या रहा हूँ, आप ये मांस भरे रसगुल्ले क्यों खा रहे हैं ? तो वह कहता है कि हम नहीं खाते हैं। ये तो पुद्गल पुद्गल को खा रहे हैं। महाराज फिर आप मुझे क्यों टोकते हो। यह हाथ और आपका गाल भी पुद्गल पुद्गल ही है। पुद्गल-पुद्गल लड़े हमने तुम्हें नहीं मारा। तब गुरूजी बोलें कि तुमने हमारी आँखें खोल दी। होता है ऐसा।

आत्मा व परमात्मा का व्यावहारिक अवबोध—एक राजा था, उसे आत्मा व परमात्मा कुछ भी नहीं मालूम था। एक दिन वह घोड़े पर जा रहा था, रास्ते में मन्त्री का घर मिला। मन्त्री से कहा कि हमें परमात्मा व आत्मा समझाइए। मन्त्री ने कहा कि घोड़े से उतरो तब एक आध घंटे तक अच्छी तरह समझाए। बोला कि हमारे पास इतना टाइम नहीं है, हमें तो पाँच मिनट में ही समझा दो। मन्त्री ने कहा कि अच्छा पाँच मिनट नहीं, हम एक मिनट में ही समझा देंगे पर हमारी खता माफ हो। अच्छा माफ। मन्त्री ने राजा का कोड़ा छीनकर ५-७ राजा में जड़ दिये। राजा बोला अरे रे रे भगवान। मन्त्री ने समझाया कि देखो जो अरे रे रे कहता है वह है आत्मा। और जिसे भगवान कहा है वह है परमात्मा।

जीवभाव की कर्मकृतता में आपत्ति—यहां यह सांख्यानुयायी सिद्ध कर रहा है कि जीव अकारक है, अथवा इसी का समाधान इसमें भरा हुआ हैं कि देखो भाई यदि तुम ऐसा मानते हो कि कर्म ही सब कुछ

करते हैं तो फिर जीव अपरिणामी बन जायगा और जिसमें कुछ भी परिणमन नहीं होता है वह असत् होता है। आत्मा का फिर कुछ सत्व ही नहीं रहा गया, इस कारण तुम यह जानों कि कर्म तो वहां निमित्तमात्र है, परिणमने वाला विभावों से यह जीव है। यह बात आगे कहेंगे। अभी तो यह बताया जा रहा है कि इस सिद्धांत में जीव अकारक बन जायगा अपरिणामी बन जायगा, कुछ परिणमन ही नहीं करता।

अक्रियता का व्यवहार में असुहावनापन—अभी किसी आदमी से कुछ बात कही और वह मौन सा बैठा रहे, क्यों जी वहां चलोगे ? वह चुप बैठा रहे। क्यों जी ऐसा करना है ना ? वह चुप बैठा रहे, इसी तरह की दसों बातें आप कहे वह चुप बैठा है जरा सा भी न बोले तो आपका गुस्सा आ जायगा। आप कहीं जा रहे हों, कोई सिपाही मिल जाय और आप कहें कि भैया फलानी जगह का रास्ता कहां से गया। और वह कुछ न सुने, न बोले तो आप उसे मन ही मन गाली देकर जाते हैं कि देखो हमारा ही नौकर और जरा सा बताने में भी आलस्य कर रहा है, वह आपको सुहाता नहीं है। ऐसे ही कर्मठ पुरूष सबको सुहाता है जो पुरूष आलस्य करता है वह नहीं सुहाता है।

परिणमयिता में ही सत्व का सम्भवता—जो सदा परिणमता रहे वह सद्भूत होता है अन्यथा सत् भी नहीं रह सकता है। तो कर्म ही जीव को अज्ञानी बनावे ज्ञानी बनावे जगावे सुलावे दु:खी करे, सुखी करे, उल्लू बना दे संयमी बना दे, जहां चाहे भ्रमण करा दे, शुभ अशुभ परिणाम करा दे, इतना यदि सन्तव्य है तो फिर यह बतलावो कि आत्मा ने किया क्या ? यह सब तो किया कर्मों ने। तो इस सिद्धांत में आत्मा अकारक बन जायगा, इस आपत्ति को देकर और वर्णन करेंगे।

यहां सांख्य सिद्धांती अपने ही पक्ष का निरूपण करता जा रहा है और जैन आगम में और जैन सिद्धांत में जो शब्द कहे हैं उनके द्वारा सिद्ध करता जा रहा है।

गाथा 336

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी।।३३६।।

मैथुन भाव की कर्मकृतता का पक्ष—आचार्यों की परिपाटी से चले आए हुए आगम में लिखा है कि पुरूष वेद नामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करते हैं और स्त्री वेद नामक कर्म पुरूष को चाहता है। इससे इतने उपदेश में तो यह आया कि कोई भी जीव व्यभिचारी नहीं है, कर्म ने ही स्त्री को चाहा, कर्म ने ही पुरूष को चाहा, कर्म ही तो सब अभिलाषा किया करते हैं। अब दोनों कहां उतर रहे है ये शंकाकार। एक कथानक में आया है कि एक ब्रह्म एकांतवादी किसी महिला को पढ़ाया करते थे। तो पढ़ाते-पढ़ाते कुछ समय बाद उसने कुछ स्पर्श किया। सो वह क्या कहती है कि क्या कर रहे हो। पाठक बोला हम परीक्षा कर रहे हैं। स्त्री ने एक तमाचा दिया। कहा तेरी वह परीक्षा है तो हमने तेरी परीक्षा करली । यहां सांख्य सिद्धांती कह रहा है कि देखो तुम्हारे आगम में कहा गया है ना पुरूष वेद नामक कर्म किसे कहते हैं जो स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न करे। तो स्त्री को चाहने वाला कौन हुआ ? कर्म। और पुरूष को चाहने वाला कौन हुआ ? कर्म। तब फिर जीव कोई अब्रह्मचारी ही नहीं।

मैथुन भाव की कर्मकृतता पर आपत्ति—ये शब्द कुछ समाधान रूप भी हैं और शंका रूप भी है। समाधान रूप तो यों हैं कि फिर ऐसी आपत्ति आ जाय कि ये मनचले जीव फिर कोई अब्रह्मचारी ही न रहेंगे। चीज क्या चल रही है उसको न पकड़ोगे तो प्रकरण समझ में न आयगा। कर्म निमित्त है इसका खण्डन रंच नहीं है। पुरूष वेद नामक कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव अपने में स्त्री की अभिलाषा रूप परिणमन करता है पर शंकाकार का तो यह मंतव्य है कि जीव तो अपरिणामी ही है और जो कुछ करते हैं वे सब कर्म करते हैं।

देह की अपवित्रता और व्यामोही का व्यामोह—भैया ! जगत में दु:ख केवल खोटे परिणामों का है। जीवों को क्लेश और कुछ नहीं लगा है। खोटे परिणामों का ही क्लेश है। देखो इस प्रसंग में शरीर भी अच्छा मिला है मनुष्य का सबसे ऊँचा अंग माना गया है, यह मस्तक, यह गोलमटोल कदुआ सा जो रखा है, यह सबसे ऊँचा माना गया है और सबसे ज्यादा मैल इतने ही अंग में भरे हैं। कान का कनेऊ आँख का कीचड़, नाक की नाक, मुँह का थूक, कंठ का कफ, खून, मांस मज्जा ये सब इसमें भरे हैं। और जरा सा कोई फोड़ा फुन्सी हो जाय तो भीतर की पोल सामने आ जाती है। पीव निकले, खून निकले, और मैल निकले। अभी थोड़ा सा पसीना आ जाय तो यह पसीना ही रूचिकर नहीं होता है। ऐसी अपवित्र चीजें शुरू से ऊपर तक इस शरीर में भरी हुई हैं। जिस पर जरा सी चाम चादर मढ़ी है और उस पर कुछ रंग बिरंग आ गये हैं इतने ही मात्र से यह सारी अपवित्रता ढकी हुई है, जिसे शरीर के भीतर की अशुचि का पता हैं उन्हें शरीर को देखकर रति नहीं होती है और जो मोही पुरूष हैं वे अन्दर के अपवित्र अशुचि पदार्थों पर दृष्टि ही नहीं रखते। यह जीव खुद विभाव परिणत होकर व्यभिचारी बनता है, दुष्ट बनता है

किन्तु इस ऐब को न मान कर जो यह कथन है कि पुरूष वेदनामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्री वेदनामक कर्म पुरूष की अभिलाषा करता है सो इसमें शंकाकार क्या निश्चय करता है।

गाथा 337

तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणदं।।३३७।।

जीव के अपरिणयितृत्व पर आपत्ति—जब कर्म भी अभिलाषा करता तब हमारे सिद्धांत में कोई जीव अब्रह्मचारी नहीं है ऐसा शंकाकार जीव को एकांतत: अपरिणामी सिद्ध कर रहा है। जीव स्वरूप निश्चल है। ऐसा निश्चल है कि उसमें कोई तरंग नहीं उठती। सारा नृत्य यह प्रकृति का हो रहा है पर जैन सिद्धांत तो प्रत्येक सत को परिणमता हुआ मानता है यदि आत्मा विभाव परिणाम नहीं करता, शुभ अशुभ परिणाम नहीं करता, प्रकृति ही सब कुछ करती तो आत्मा ने क्या किया ? कुछ नहीं किया। यदि आत्मा ने कुछ नहीं किया तो अपरिणामी हुआ और जो अपरिणामी हैं वे सब असत् हैं। कर्म के उदय से अभिलाषा तो होती है पर जीव में अभिलाषा होती है, कर्म ही अभिलाषा नहीं करते, कर्म जड़ हैं, ऐसे चिदाभास की परिणति कर्म में नहीं होती। लो यहां कुछ नहीं किया जाता इस पर आपत्ति आ रही है और घर में भी कुछ न करने पर लड़ाई होती है, हम ज्यादा काम करती हैं, यह बैठी रहती हैं ऐसी लड़ाईयाँ होती हैं। यहां यह बता रहे है कि यदि कुछ काम न करे तो पदार्थ का विनाश हो जाय आगे यह सांख्यानुयायी कह रहा है।

गाथा 338

जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
एदेणत्थेण किर भण्णदि परघादणामेत्ति।।३३८।।

हिंसा की कर्मकृतता का पक्ष—शंकाकार कह रहा हैं कि जिस कारण से पर जीव के द्वारा पर को मारा जाता है तो वह परघात नामक प्रकृति है। जो परजीव का घात करे सो परघात है, इस तरह तो हम जानते हैं कि प्रकृति ने ही हिंसा की, जीव हिंसा नहीं करता जीव को हिंसा नहीं लगती। जीव तो चैतन्यस्वरूप है। अच्छी मन की बात कही जा रही है जो साधारण जनों को बड़ी अच्छी लगे, पर

मनमाफिक तो बात होती नहीं। मन तो ऐसा चाहता है कि कर्म ही को हिंसा लगे, कर्म ही खराब हों। हम सदा शुद्ध ही रहें किन्तु ऐसा होता तो नहीं। परघात नामक प्रकृति का उदय होने पर यह जीव ऐसे अंग पाता है कि जो दूसरे जीव के घात में सहकारी होता है। जैसे सिंह के नख दाँत, कुत्ते के दाँत। सो सब परघात प्रकृति के काम हैं।

उपघात की प्रकृति का उदाहरण—जैसे उपघात प्रकृति के उदय में अपने आपके ही अंग ऐसे उत्पन्न होते हैं कि जिससे खुद को बाधा होती है। जैसे बहुत बड़ा लम्बा चौड़ा पेट हो जाय तो खुद को बाधा होती है कि नहीं ? जिस भैंस के सींग लम्बे हैं उसने जहां मुँह फेरा कि सींग पट्ट पेट में लग जाते है। भैंस के सींग अच्छे तो नहीं लगते मगर किसी किसी भैंस के सींग अच्छे होते हैं। जैसे पंजाबी भैंस के सींग अच्छे होते है।

विचार कर भी अशुभ का करना क्या ?–एक सेठ जी थे सो सबेरे ७ बजे रोज अपने घर के चबूतरे पर बैठकर दातुन करते थे। दातुन करने में उन्हें एक घण्टा लगता था, ७ बजे रोज वहां से गाय भैंस निकले। एक भैंस की सींग बड़ी अच्छी थी, गोलमटोल अच्छी बढ़िया । जैसे बरसात में बड़ी गिजाई हो जाती है तो वह चिपट जाती है ऐसी बढ़िया ऐंठी हुई नीवें थी। वह दातुन करता जाय और सोचता जाय कि ऐसी सींग यदि हमारे होती तो हम भी खूब अच्छे लगते। ७ बजे रोज दातुन करने बैठे रोज वही भैंस निकले सो उसके सींग को देखकर फिर सोचें ऐसी भावना करते-करते ६ माह हो गये, अब इसकी सींगों को अपने सिर में लगा लेना चाहिए, ऐसा सोचकर उसने अपने सिर को उस भैंस की सींग में लगा दिया भैंस ने अपना सर ऊँचा उठा दिया सो उसके गले में लटक गया। इसी तरह से ठर्राते हुए भैंस एक फर्लांग तक उसे ले गई। उसके कहीं हाथ टूटा, कहीं पैर टूटा तो कहीं सिर फटा। वह दृश्य देखकर गांव के तमाम लोग जुड़ आए। पूछा कि सेठ जी आपने यह क्या कर डाला ? बिना विचारे ऐसा काम नहीं करना चाहिये। सेठ जी कहते हैं कि भैया विचार तो हमने खूब किया, ६ माह तक बड़ी गम्भीर दृष्टि से विचार करता रहा। ६ माह तक खूब विचार करने के बाद मैंने सोचा कि आज यह काम कर डालना चाहिये। सो आज कर डाला। गांव के लोगों न कहा कि ऐसी बात ६ माह तक विचारो चाहे जिन्दगी भर विचारों खोटी बात तो खोटी ही रहती है।

मोह की सर्वत्र कटुकता—लोग कहते हैं कि भैया तुम बहुत दन्द में पड़ गए। तुम बिना विचारे बड़े मोह में फंस गए अरे कहां बिना विचारे फंस गये, १०, २० वर्ष तो खूब विचार किया अरे १०, २० वर्ष ही

क्या चिरकाल से खूब विचार किया और अब तक उसी में ही पगे हुए जीव चल रहे हैं।

प्रकृति का देह निर्वृत्ति से निमित्त नैमित्तिक सम्बंध—उपघात नामक कर्म का उदय है सो किसी-किसी का एक पैर हाथी के पैर जैसा हो जाता हैं। जो बिहार प्रांत में बादीली जगह में रहते हैं उनका एक-एक पैर हाथी के पैर जैसा मोटा रहता है। उनके चलने में तकलीफ होती है। वह उपघात नामक कर्म का उदय है। भाई बूढ़े का बुरा न मानों। (बूढ़े और बच्चे बराबर होते हैं। जैसे बच्चे के दाँत नहीं वैसे बूढ़े के दाँत नहीं) और अपने शरीर में जो पित्त कफ आदि हैं ये भी उपघात नामक कर्म के उदय से होते हैं। जब ये कुपित हो जाते हैं तो विकार हो जाता है, सिर दर्द हो जाता है तो उपघात नामक कर्म के उदय से अपना ही अंग ऐसा बन जाय जो अपने को बाधा करने में भी निमित्त बने और परघात नामक कर्म के उदय से अपना वह अंग ऐसा हो जाय कि दूसरे का घात करने के निमित्त बने यह है शरीर के अंग का और नाम कर्म के उदय का निमित्त नैमित्तिक सम्बंध।

अपनी करनी अपनी भरनी—यहां ऐसा नहीं जानना कि कर्म ने ही दूसरे को मारा सो हिंसक तो कर्म हुआ। हम तो हिंसक नहीं हैं। जैसे सांई बाबा होते हैं ना, तो उन्हें २ टका मिलते हैं, और वे छुरी चलाते हैं। तो मालिक कहता है कि हमने तो छुरा नहीं चलायी, सांई बाबा ने चलाई है। तो सांई कहता है कि हमें तो खुदा ने भेजा है, उनका नाम लेकर हम छुरी चला देते हैं, हमें काहे हिंसा लगे। बहाने कितने ही ढूंढ लिये जाते हैं। जैसे जैनियों ने एक बहाना ढूंढा है, धर्मात्मा भी बने रहें और बाल बच्चों का सब काम भी सफाई के साथ करते रहें। क्या बहाना है ? भाई चारित्र मोह का उदय है। सम्यग्दर्शन होता सही है और निश्चय श्रुतकेवली ने बताया है कि लो निश्चयत: शुद्ध आत्मा को जाने सो निश्चय ही केवली है। दूसरी बात यह है कि छोटे-छोटे बाल बच्चे हैं, इन्हें छोड़ दें तो फिर उनकी हिंसा का पाप तो होता है। सो उनकी दया भी करनी पड़ती है। वह अपना प्रधान कर्तव्य है, दीक्षा तो बाद की चीज है। और चरित्र मोह का उदय उसके कहा जाय जो घर में रहते हुए भी घर की बातों को व्यर्थ मानता है, और उसमें रति नहीं मानता है नहीं तो दर्शनमोहनीय सीधा कहना चाहिए। यहां जिज्ञासु कह रहा है कि परघात नाम प्रकृति घात करती हैं इससे हम यह निर्णय करते हैं कि प्रकृति ही हिंसक है।

गाथा 339

तम्हा ण को वि जीवो वघादेयो अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इवि भणिदं।।३३९।।

प्रकृति कर्तत्व का निष्कर्ष—इसलिए कोई भी जीव हमारी दृष्टि में घात करने वाला नहीं है, हिंसक नहीं है। हिंसक है कर्म प्रकृति, क्योंकि कर्म ने ही कर्म घ्याता है, जहां यह कह रहे हैं कि कर्म हिंसा करता है और यह कह दें कि जीव का घात करता है। बात तो नहीं बनेगी क्योंकि जीव को अपरिणामी रख रहा है यहां शंकाकार। तो कर्म ने कर्म को मारा इस कारण हम यह जानते हैं कि जीव हिंसक नहीं होता। इस तरह सांख्यानुयायी शिष्य शंकारूप में अपना पूर्व पक्ष रख रहा है। हम तो जानते है कि आत्मा अकर्ता ही है।

पूर्वा पर विरूद्ध तत्त्वों का भी स्याद्वाद से निर्णय—भैया ! इससे पहले क्या बात आई थी कि आत्मा कर्ता ही है। जैसे लौकिक जन ऐसा मानते हैं कि कोई प्रभु इस सारे विश्व का कर्ता है, जीव नहीं करता है। ऐसा ही तुमने माना था कि सारे विश्व का यह आत्मा कर्ता ही है। तो उसके एवज में यह शिष्य कहता है कि जीव तो अकर्ता ही है, कुछ करने वाला नहीं है, इस सबको प्रकृति करती है। सो जीव अकर्ता भी है, इसे अपरिणामी भी सिद्ध किया है, किन्तु स्याद्वाद का सहारा लिए बिना कोई झगड़ा नहीं निपटता, शांति नहीं मिलती। इस प्रसंग में यदि यह कहा जाय कि आत्मा कर्ता ही है तो दूषण आता है। यह कहा जाय कि आत्मा अकर्ता ही है तो दूषण आता है और पर उपाधि का निमित्त पाकर आत्मा विभाव परिणमन का कर्ता होता है। अंत: आत्मा कथंचित् कर्ता है इसमें मार्ग मिलता है और कथंचित् अकर्ता है।

स्याद्वाद के स्वरूप के अवगम का एक उदाहरण—बनारस के एक ब्राह्मण थे उन्हें कुछ जैन विद्यार्थियों को जैन दर्शन पढ़ाने का मौका मिला। उसे स्याद्वाद दर्शन में बड़ी श्रद्धा हो गई। कुछ लोगों ने यह कहा कि जैनियों के मन्दिर में न जाना चाहिए, न जैनियों के शास्त्र पढ़ना चाहिए। तो उनका यह कहना था कि आप का कहना बिल्कुल ठीक है। जैनियों के मन्दिर में न जाना चाहिए क्योंकि एक बार भी आ जायेंगे और प्रभु की इस शांत मुद्रा को निरखेंगे तो फिर वहीं रह जायेंगे। या जैन दर्शन के ग्रंथों को यदि देखेंगे जिनमें स्वरूप का वर्णन है मन गढ़ंत कथायें नहीं हैं, चरित्र और गुण का वर्णन है। तो पढ़ने के बाद वे उसी के श्रद्धालु बन जायेंगे इसलिए उनके छोर ही न जाना चाहिए तो अपना बचाव करने के लिए वे ठीक रहते हैं। हां तो काशी के इन पंडितजी की प्रतिभा समझाने की बतावेंगे।

धर्म की श्रद्धा व धुन—एक भाई मेरठ में मिले थे सत्यदेव उनका नाम था। वे आर्य समाज में बहुत दिनों तक रहे। एक दिन मेरे पास आए। बड़े विद्वान थे वे और दो तीन दिन रहने के बाद बोले कि हमको

तो जैन दर्शन से बड़ी श्रद्धा है और साथ ही यह भी कहा कि मैं आपको गुरु मानकर मैं गुप्त रहकर कहीं भी विचरूंगा और इस जैन शासन की सेवा करूंगा। वहां से जाने के बाद हमें केवल एक बार मिला जबलपुर में, अब तक नहीं मिले किन्तु खबर जरूर मिलती रहती है कि वह अपने धर्म में अब तक अडिग है। एक खबर हमें देहरादून में मिली थी। एक छपा हुआ बड़ा पर्चा आया जिसमें कुछ समाचार प्रकाशित था, राजस्थान में एक जैनियों के खिलाफ बड़ी सभा बनायी हुई हैं, बड़ी प्रसिद्ध है, राजस्थान वाले सब जानते हैं। तो उस पत्र में यह आया कि कमेटी वालों ने कमेटी तोड़ दी है कहने से। और भी विशेष धर्म प्रभावना की बातें लिखी थीं, और नीचे हमारा नाम देकर लिखा था, कुछ कृतज्ञता जाहिर करके कि उनके ही प्रसाद से हमने ऐसा किया है। तब हमने समझा कि यह वही सत्यदेव है जो मेरठ में मिले थे। तो धुनि की बात है, किसी की ऐसी धुनि हो, जिसे कहते हैं हार्दिक रूचि बताना नहीं चाहते और अपने अन्तर में धर्म श्रद्धा बराबर अडिग बनाये रहता है।

ब्राह्मण पंडित की स्याद्वाद प्ररूपक एक सुगम सूझ—तो यह ब्राह्मण पंडित जैन छात्रों को पढ़ाता था, पढ़ाने के बाद उसकी श्रद्धा अडिग हो गई कि वस्तु का अडिग निर्णय स्याद्वाद के द्वारा ही होता है और उसने सब साथियों से यह बात कही कि स्याद्वाद ही एक ऐसा उपाय है कि वस्तु के सही स्वरूप पर ले जाता है। एक आदमी और बोला कि हमें पंडित जी जरा आप स्याद्वाद बतलावे तो सही। अच्छा भाई बैठो घंटा डेढ़ घण्टा में समझा देंगे। कहा कि इतनी फुरसत नहीं है हमें १० मिनट में समझा दो। कहा कि अच्छा १० मिनट में नहीं हम सवा मिनट में समझा देंगे अच्छा बैठो। बैठाल दिया। उस पंडित के पास चार फोटो रखी थी उसके घर की एक पीछे से चित्र लिया हुआ एक आगे से चित्र लिया हुआ एक अगल से और एक बगल से। चार फोटो क्रम से दिखाया। पूछा कि ये किसकी फोटो है। कहा कि ये आपके घर की फोटो हैं जो कि पीछे से खींची गयी है। अच्छा यह भी आपके घर की है पूरब की तरफ से खींची गयी है। इसी तरह बता दिया कि यह उत्तर दिशा से और यह दक्षिण दिशा से खींची फोटो है। तो पंडितजी ने कहा कि बस यही तो स्याद्वाद है। वस्तु में जो धर्म की निरूपणता होती है वह सब अपेक्षा से होती है। द्रव्य अपेक्षा से नित्य, पर्याय अपेक्षा से अनित्य, इस प्रकार सब वर्णन होता है। बतलावो स्याद्वाद के बिना व्यवहार में भी गुजारा होता है क्या ? व्यवहार में भी गुजारा नहीं होता, यह सब निर्णय आगे किया जायगा।

गाथा 340

एवं संखुवएसं जे उ परूवेंति एरिसं समणा।
तेंसि पयडी कुव्वदि अप्पाय अकारगा सव्वे।।३४०।।

आत्मा के अपरिणमित्व पर प्रसक्ति—कर्म ही रागद्वेष आदि सब कुछ करते हैं ऐसी जो सांख्य उपदेश की निरूपणा करते हैं उनके मत में प्रकृति ही सब कुछ करने वाली हुई और आत्मा सब अकारक हो गए। अर्थात् आत्मा में कुछ भी परिणमन नहीं होता है, ऐसा उक्त मंतव्य बन गया किन्तु ऐसा तो है ही नहीं कि कोई पदार्थ परिणमन शून्य हो। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमन शील होता है, क्योंकि वे सत्स्वरूप हैं, जो परिणमनशील नहीं होता वह सत् स्वरूप भी नहीं होता। जैसे गधे का सींग परिणमनशील है ही नहीं तो वह सत् स्वरूप नहीं है।

प्रकृतिवादैकांत में अनिष्टापत्ति—देखो नय की बलिहारी कि गधा के सींग नहीं होते। पर अपने संकल्प से गधे के सींग हो सकते है। विचार में सामने गधा खड़ा करले और उसके सिर पर सींग लगा दें तो क्या कोई रोकता है ? अथवा गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि जिनके ऊँचे सींग हो उनके ही सींग विचार में गधे के जोड़ दें तो जीव वह भी था, जीव वह भी था, जिस चाहे संकल्प में घुटाला करके गधे के सींग बना लें पर वस्तु स्वरूप भी देखो तो गधा के सींग नहीं होते क्योंकि वे परिणमन शील ही नहीं है तो प्रकृति ही सब कुछ करती है ऐसा उनका मन्तव्य बन गया जैसा कि वे सांख्य खुद ही कहते हैं। प्रकृति से महान् हुआ इंटलीजेन्स कुछ ज्योति, ज्ञान उसके क्षयोपशम से हुई, उससे अहंकार। अहंकार से इन्द्रिय, इन्द्रिय से तन्मात्रायें, विषय और उन मात्रावों से ये सब दृश्यमान भूत हुए। ऐसा सर्व कुछ जो उत्पन्न हुआ वह सब प्रकृति की देन है, ऐसा मानने पर फिर तो आत्मा अकारक ही हो गया, परिणमन शून्य हो गया।

गाथा 341

अहवा भण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स।।३४१।।

शंकाकार द्वारा आत्मकर्तत्व के समर्थन का बलप्रयोग—अथवा इस दूषण के भय से यह मान लिया जाय कि भाई मेरे मत में तो आत्मा अकारक नहीं है, आत्मा अपने आपको करता है। जैसे किसी सेन्स में कुछ जैन भी ऐसा मानने लगे हैं कि आत्मा तो ज्ञान परिणमन को परिणमने वाला है और रागादिक को परिणमाने वाले कर्म है आत्मा नहीं है। जैसे उनकी दृष्टि में परिणमना न परिणमना बराबर सा बन गया तो हमारे मत में भी आत्मा ज्ञान से भी नहीं परिणमता, किन्तु आत्मा चैतन्यस्वरूप अपने को करता है।

वृत्ति बिना स्वरूप का अभाव—आप कहेंगे कि इसका तो कुछ अर्थ ही नहीं निकला, ज्ञानरूप भी

नहीं परिणमता और चैतन्यस्वरूप अपने को किए रहता है इसका मतलब क्या है ? जैसे एक कहावत है कि—जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट। तेली रे तेली तेरे सिर पर कोल्हू। भाई तुक तो नहीं बनी। तो भार तो लद गया। आत्मा रागरूप भी नहीं परिणमता और ज्ञानरूप भी नहीं परिणमता। सो जब कहा कि आत्मा अकारक हो जायेगा तो बात बनाते हो कि वह अपने को चैतन्यरूप कर रहा है जानन का स्वरूप नहीं, दर्शन का स्वरूप नहीं, राग रूप, विभाव रूप, परिणमन का मतलब नहीं तब फिर चैतन्यस्वरूप क्या ? तो तुम यह कहोगे कि मेरे मत में तो आत्मा आत्मा को करता है, तो ऐसा मानने वाले तुम्हारे मत में मिथ्या भाव प्रकट ही सिद्ध है। यह कहना मिथ्या क्यों ? तो युक्ति देते है।

गाथा 342

अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो य कादुं जे।।३४२।।

आत्मा में आत्मद्रव्य का ही कर्तृत्व क्या–आगम में आत्मा को नित्य असंख्यातप्रदेशी बताया गया है। तो यह आत्मा उस असंख्यात प्रदेश प्रमाण से न तो हीन किया जा सकता है और न अधिक किया जा सकता है। आत्मा आत्मा का कर्ता है। इस पक्ष के उत्तर में पहिली बात यह रखी जा रही है कि आत्मा आत्मा का करता क्या है ? क्या इसे घट बढ़ बना देता है ? सो असंख्यात प्रदेश से न यह हीन होता है और न अधिक होता है। एक बड़े शरीर वाला जीव भी असंख्यातप्रदेशी है और असंख्यात प्रदेश को घेरे हुए है और एक अत्यंत पतली बूंद से भी बहुत छोटा कोई जीव कीड़ा वह भी असंख्यातप्रदेशी है और असंख्यात प्रदेश से घिरा हुआ है और निगोद जीव जिसका शरीर आँखों दिख ही नहीं सकता उतना सूक्ष्म शरीरी जीव भी असंख्यात प्रदेशी है और आकाश के असंख्यात प्रदेश में फैला हुआ है और एक केवली समुद्घात करने वाले केवली भगवान का जीव लोकपूरण समुद्घात के समय असंख्यात प्रदेशी है और असंख्यात प्रदेशों को घेरे हुए है। शरीर से मुक्त होने के बाद सिद्ध भगवान का भी जीव असंख्यात प्रदेशी है और आकाश के असंख्यातवे प्रदेशों को घेरे हुए है।

नित्य आत्मद्रव्य का क्या करना—यह जीव सर्वदा असंख्यात प्रदेशी है और नित्य भी है। अब उसमें कार्यपना क्या आया? कार्य तो उसे कहते हैं कि पहिले न था और अब हुआ। जैसे यह ज्ञान जो ज्ञान के समय में चल रहा है वह ज्ञान पहिले न था, इस रूप में और अब हुआ है। लो कार्य बन गया। यहां तक भी परिणमन आत्मा में न हुआ तो अब आत्मा ने आत्मा को और क्या किया ? आत्मद्रव्य पहिले न हो और अब हो जाय तो आत्मा को किया हुआ समझिये। जो अवस्थित है, नित्य है, असंख्यात प्रदेशी है

उसमें कुछ प्रदेश घट जायें, कुछ प्रदेश फीक जायें ऐसा भी नहीं हो सकता। पुद्गल स्कंध की तरह कुछ प्रदेश आयें और कुछ प्रदेश चले जायें ऐसा तो होता नहीं, फिर कार्यपना क्या ?

प्रदेश विभाजन से द्रव्य के एकत्व का अभाव—यदि आत्मा के प्रदेशों में कुछ आ जाय, कुछ चला जाय तो फिर यह एक न रहा। इसमें एकत्व नहीं रहा। जैसे ये दिखने वाले पदार्थ भींत खम्भा चौकी आदि एक नहीं हैं, इनमें से कुछ हिस्सा निकल जाता है, कुछ हिस्सा आ जाता है, ये एक नहीं हैं, ये अनेक है, मिले हुए हैं, इसलिए ये बिखर जाते हैं, जहां एक वस्तु का हिस्सा नहीं हो सकता, हो जाय हिस्सा तो समझलो कि वह एक न था, अनेक मिले थे।

स्वरूप विरूद्ध अपलाप—यहां जीव को परिणमने वाला सिद्ध कर रहे हैं। यहां जिज्ञासु ज्ञान पर, विभावों पर हाथ नहीं रखना चाहता, इसकी मान्यता में यह जीव न ज्ञानरूप परिणमता, न दर्शनरूप परिणमता, न विभावरूप परिणमता यह आत्मा तो आत्मा के करता है कोई विवाद करे, १० दिन विवाद करे, ५० दिन विवाद करे, अपनी ही कहते रहे, विवाद नहीं छोड़ें तो वचन तो वह हैं ही अपनी-अपनी सिद्ध करते जायेंगे।

हठ की क्या चिकित्सा—एक देहाती पंचायत थी, उसमें एक पटेल जी बैठे थे। तो ऐसी बात सामने आयी कि किसी का मामला था, सो पूछा गया कि ३० और ३० कितने होते हैं ? तो पटेल को बोल आया कि ५० होते है। लोगों ने कहा कि ३० और ३० मिलाकर ६० होते हैं। चाहे अंगुलि पर गिन लो या कंकड़ रखकर गिन लो। उसने कहा, नहीं ५० ही होते है। औरों ने कहा कि ५० नहीं होते है। पटेल बोला कि अच्छा अगर ५० नहीं होते हैं तो हमारी चार भैंसे हैं, बारह-बारह सेर दूध देती है, यदि ५० न होते होंगे तो हम चारों भैंसें पंचायत को देंगे। तो लोग बड़े खुश हुए कि कल चारों भैंसें मिलेंगी। अपनी समाज के बच्चे खूब दूध पीयेंगे। यह कथा पटेल जी ने जान ली तो वह रोवे, बड़ी उदास थे कि कल भैंसें चली जायगी, अपने बच्चे अब क्या खावें पीवेंगे ? पटेल घर में आकर स्त्री से बोला कि क्यों उदास हो ? स्त्री बोली कि तुम्हारी करतूत से दु:खी हैं। तुमने ऐसा कर दिया कि कल भैंसें चली जायेगी। पटेल बोला कि तू तो कुछ जानती नहीं है। अरे भैंसें तो तभी जावेंगी जब हम अपने मुख से कह देंगे कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं। सो कोई कुछ कहे इसने तो जो तत्त्व माना, जो पक्ष माना वही कहता है। अब क्या कर लेंगे ?

संकोच विस्तार होने पर भी असंख्यातप्रदेशित्व में अबाधा—शंकाकार कहता है आत्मा न ज्ञानरूप परिणमता, न रागादिक रूप परिणमता, ये तो सब प्रकृति के कार्य हैं। आत्मा तो आत्मा को करता है। अरे भाई तो कहने से क्या है ? कुछ बात तो सामने लावो कि सब आत्मा आत्मा को करते किस रूप है ? आत्मा असंख्यातप्रदेशी है, वहां घट बढ़ तो होता नहीं। हां नहीं होता है, अरे घट बढ़ तो महाराज नहीं होता, पर प्रदेशों में संकोच और विस्तार तो होता रहता है, सो यहां आत्मा ने आत्मा को किया। तो समाधान में कहते हैं कि भाई आत्मा का प्रदेश नित्य अवस्थित है। आत्मा के प्रदेशों के बिछुड़ने मिलने से तो एकत्व मिट जाता है इसलिए प्रदेश का तो कुछ नहीं किया।

दृष्टांत पूर्वक नियतता की सिद्धि—अब रहा कि जो छोटे बड़े नियत शरीर है उन शरीरों के अनुसार आत्मा में संकोच और विस्तार होता है। इससे आत्मा में एकत्व भी आ गया और करना भी हो गया, सो कहते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि संकोच और विस्तार भी हो जाय पर निश्चित असंख्यात प्रदेश में कमीवेशी तो नहीं हुई। जैसे गर्मी में चमड़ा सुख जाता है और उसके प्रदेश सिकुड़ जाते है और बरसात में चमड़ा फैल जाता है उसके प्रदेश का विस्तृत हो जाता है, ऐसा संकोच विस्तार होकर भी प्रदेश वे ही हैं। ऐसे ही आत्मा में संकोच और विस्तार होकर भी आत्मद्रव्य में प्रदेश वे ही हैं, वहां अपूर्व कुछ नहीं हुआ। इस कारण आत्मा ने आत्मा को द्रव्य में प्रदेश में कुछ नहीं किया।

ज्ञातृत्व कर्तृत्व के विरोध का जिज्ञासु द्वारा समर्थन—यदि इस दृष्टि द्वारा अवगमन हो कि वस्तु का स्वभाव तो सर्वथा दूर किया ही नहीं जा सकता, सो ज्ञायकभाव आत्मा ज्ञानस्वभाव सहित ही ठहरता है। तनिक और अब बढ़े समाधानदाता की ओर पर शंका ज्यों की त्यों रखनी है कि भाई आत्मा का जो ज्ञायकस्वरूप है वह अभी तो था चैतन्यस्वरूप, इसको अब ज्ञायक नाम लेकर कहा जा रहा है कि वह तो ज्ञानस्वभाव से ही सदा ठहरता है और ज्ञानस्वभाव के रूप से सदा जो ठहर रहा हो उसमें ज्ञायकपना और कर्तापना—इन दोनों का अत्यन्त विरोध है। तुम भी तो कहते हो। जो ज्ञाता है सो कर्ता नहीं है, जो कर्ता है सो ज्ञाता नहीं है। सो आत्मा तो सदा ज्ञायकस्वभाव से ही ठहरा है। वह मिथ्यात्व रागद्वेष आदि भावों का कर्ता नहीं होता।

आत्मा के अपरिणामित्व की सिद्धि—शंकाकार का प्रयोजन इस समय ऐसा डटा हुआ है कि वह किसी भी विभाव को आत्मा का परिणमन नहीं मानता। उन सबको प्रकृति का परिणमन कह रहा है क्या ? कि ज्ञायकपने का और कर्तापने का अत्यन्त विरोध है। सो विभावों का वह कर्ता नहीं और होता जरूर विभाव है, इसलिए हम तो यही जानते हैं कि उन विभावों को करने वाले कर्म ही हैं। यहां निमित्त दृष्टि नहीं रखी जा रही है। शंकाकार के अभिप्राय में कर्म ही रागरूप परिणमते है, आत्मा तो सदा ज्ञानस्वभाव

से ही ठहरा रहता है। अरे भाई इस मंतव्य में तो आत्मा आत्मा को करता है, यह बात तो बिल्कुल ही नहीं बनी। जैसे कहने लगते हैं कि पंचों का हुकुम सिर माथे, पर पनाला यहीं से निकलेगा। यही एक परम शुद्ध निश्चयनय का दृष्टांत है।

नयों के कार्य—नय अपना विषय बतलाते हैं, उनका काम दूसरे नयों के विषय का खण्डन करना नहीं है। यह प्रकरण करने वाले की कला है कि उस समय उस नय को जान लिया, एक को मुख्य कर लिया, एक को गौण कर लिया। जो कोई कुछ कह रहा है उसका मंतव्य और दृष्टि जैसी अपनी दृष्टि बनाकर सुना जाय तो उसका कहना सही है, पर इतनी क्षमता कल्याणार्थी पुरूष में ही हो सकती है, हठी पुरूष में नहीं हो सकती है। जब हम नैयायिक, मीमांसक, वैशेषिक, बौद्ध आदि अनेक सिद्धांतों का स्याद्वाद द्वारा समन्वय कर सकते हैं तो जैन-जैन में ही परस्पर विपरीत कहे जा रहे हुए वचनों का समन्वय करने की क्या स्याद्वाद में क्षमता नहीं है ? हां यह बात अवश्य है कि उन सब बातों को जानकर कल्याण के लिए हमें कौन सी बात मुख्य करना है, उसको हम मुख्य करें और उसका आश्रय करें।

निर्णय और आश्रय—भैया ! विवाद में विसम्वाद में रहकर कोई सफल नहीं होता है। हां कह दो भाई, आपकी बात ठीक है, इस दृष्टि से ठीक है। निपट गये। पक्ष कोई पड़ेगा नहीं। विवाद शान्त हो गया। तो जिसका आश्रय, जिसका आलम्बन, जिसकी दृष्टि हमें अशांति से हटाती है, शांति में ले जाती है उसका आलम्बन करें यह तो ठीक बात है, पर निश्चय, व्यवहार, द्रव्य, गुण, पर्याय, निमित्त, उपादान वाली बात भी तो सही है। उनकी भी दृष्टियां बना लें। हां इस दृष्टि से तो ठीक है, तो यहां यह प्रकरण जो चल रहा है कि कर्म आत्मा के अज्ञान आदिक सर्व भावों को करते हैं, ऐसा जो एक पक्ष रखा है उस पक्ष में उपादेय रूप से कर्म में कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। ऐसी बात कह चुकने के बाद अब स्याद्वाद प्रणाली से संक्षेप में यह बात बतायेंगे कि आत्मा कर्ता यों है और आत्मा अकर्ता यों है।

गाथा 343

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणदि दव्वं।।३४३।।

जिज्ञासा समाधान का उपसंहार—जिज्ञासु के अभिप्राय के अनुसार जीव न राग का कर्ता है, न ज्ञान का कर्ता है। यह प्रकट किया जा रहा है और साथ ही यह भी सिद्ध करना उसे आवश्यक हो गया है

कि आत्मा कुछ न कुछ करता जरूर है। यदि यह सिद्ध करने का प्रयत्न न करें तो आत्मा का अभाव मानना पड़ेगा। इस कारण यह बात जिज्ञासु ने कही थी कि जीव तो जीव के स्वरूप को करता है। तब कहा गया कि जो नित्य असंख्यातप्रदेशी है उसको यह क्या करता है ? वह तो इतना ही अवस्थित है। तो अब वह यह बात रख रहा है कि जीव प्रदेश फैले तो लोक मात्र फैल जायें और संकोच भी करते हैं। जिन्दा ही अवस्था में बिना समुद्घात के यह जीव चार हजार कोस लम्बा, दो हजार कोस चौड़ा और एक हजार कोस मोटा इतने प्रमाण में रह सकता है। जैसे स्वयंभूरमण समुद्र में विशाल मत्स्य जीव है।

सम्मूर्च्छन जन्म में अत्यधिक अवगाहना की नि:संशयता—कितने ही लोग मन में इतनी आशंका रखते हैं कि कहीं जीव का शरीर इतना बड़ा भी होता है ? यह आशंका ठीक नहीं, क्योंकि यह जीव समूर्छन जन्म वाला है, समूर्छन जन्म का यह मतलब है कि मिट्टी कूड़ा सब कुछ चीजें पड़ी हुई हैं जो कि शरीर के योनिभूत हैं। जब वे योग्यभूत हो जाती हैं तो किसी जीव ने आकर उसको शरीररूप से ग्रहण कर लिया, अत: इतना बड़ा शरीर मानने में भी तो आपत्ति नहीं है। अभी जिसने ४-६ अंगुल की ही मछलियां देखी हो अपने गांव के तलैयों में या नदियों के किनारे में, उसे यह सुनकर अचरज होगा कि २ मील की भी मछली होती है, और होती है, जाकर देख आवो जहां होती हैं और इतना तक हो जाता है कि दो चार मील की लम्बी मछलियों पर कूड़ा जम जाय और उस पर घास जम जाय और कोई भारी टापू जानकर अपना पड़ाव उस पर डाल दे और मछली धीरे से जरा करवट ले ले तो सारा का सारा पड़ाव जलमग्न हो जाता है। समूर्छन जन्म वाले के शरीर प्रारम्भ से ही बहुत बड़े होते है। जीव के प्रदेश विस्तार को प्राप्त हो तो उतने हो जाते है, और लोकपूरण समुद्घात में तो जीव सारे लोक को व्याप जाता है।

लोकपूरणसमुद्घात—कैसा होता है लोकपूरण समुद्घात ? अरहंत देव जिनकी आयु तो थोड़ी रह गयी और शेष के तीन अघातिया कर्मों की बहुत अधिक स्थिति है तो ऐसा तो होगा नहीं कि मोक्ष जायेगा तो पहिली आयु खत्म हो गयी, फिर और कर्म खत्म हो गये। चारों अघातियाकर्म एक साथ क्षय को प्राप्त होते है, तब होता क्या है कि केवली समुद्घात, अर्थात केवली के आत्मा के प्रदेश शरीर को न छोड़ते हुए शरीर से बाहर फैल जाय, इसका नाम है समुद्घात। केवली भगवान यदि खडगासन विराजे हो तो देह प्रमाण ही चौड़े वे आत्मप्रदेश नीचे से ऊपर फैल जाते हैं और पद्मासन से विराजे हों तो देह जितना मोटा है उससे तिगुने प्रमाण मोटाई को लेकर फैलता है। इसका कारण यह है कि पद्मासन में जितना एक घुटने से दूसरे घुटने तक प्रमाण हो जाता है वह देह की मोटाई से तिगुना हो जाता है, फैल गये प्रदेश नीचे से ऊपर तक। यह पहिले समय की बात है, इसका नाम है दंड समुद्घात।

इसके पश्चात् अगल बगल में प्रदेश फैलते हैं तो फैलते चले जाते है, जहां तक उन्हें वातवलय का आदि मिलता है। इसे कहते है कपाट समुद्घात याने किवाड़ की तरह मोटाई में नहीं बढ़ता किन्तु अगल

बगल फैल जाय। इसके बाद तीसरे समय में आमने सामने में फैलते हैं। इसका नाम है प्रतरसमुद्घात और चौथे समय में जो वातवलय छूट गये थे उन समस्त वलयों में फैल जाना इसका नाम है लोकपूरण समुद्घात। इस स्थिति में आत्मा के प्रदेश एक-एक बिखरे, हो जाते हैं और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर आत्मप्रदेश एक-एक स्थित होते हैं, इसको कहते है समवर्गणा। इसके बाद फिर वे प्रदेश सिकुड़ते हैं ऐसे प्रतरसमुद्घात में फिर सिकुड़कर कपाटसमुद्घात, फिर दंड समुद्घात हुआ, फिर देह में पूर्ववत् हो गये, इतनी क्रियावों के परिणाम में तीन कर्मों की स्थिति आयु की स्थिति के बराबर हो जाती है।

केवलीसमुद्घात से कर्मस्थिति निर्जरा का समर्थन—जैसे धोती निचोड़ी और निचोड़कर ज्यों की त्यों धर दिया तो उसके सूखने में कहो दिन रात लग जायें। कहो २४ घंटे में भी न सूखे और उसे फटकार कर फैलाकर डाल दिया जाय तो ७ मिनट में ही सूख जाती है। इसी प्रकार यह कार्माणशरीर एक केन्द्रित सा बना है, इसमें विषम स्थान है। जब यह कार्माण शरीर भी फैल जाता है तो एक दृष्टांत मात्र है कि जल्दी सूख जाता है। तो देखो आचार्यदेव किया ना आत्मा ने कुछ काम। फैल गया, सिकुड़ गया, इसलिए आत्मा अकारक बन जाय, यह आपत्ति न आयेगी। इसके उत्तर में आचार्यदेव ने बताया कि फैलने सिकुड़ने पर क्या वह प्रदेशहीन अथवा अधिक किया जा सकता है कभी ? तब द्रव्य का क्या किया ? और भी अपने पक्ष में दूषण देखो।

गाथा 344

अह जाणगो दुभावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि।।३४४।।

मौलिक शंका समाधान—हे शिष्य ! यदि तेरा यह मत बने कि ज्ञायकस्वरूप यह आत्मपदार्थ ज्ञानरूप से पहिले से ही है सो यह ज्ञानरूप रहता है। यह निर्मल आनन्दमय एक ज्ञानस्वरूपी शुद्ध आत्मा पहिले से ही है, वह तो ज्ञानस्वभावरूप रहता ही है, तो ऐसा कहने में यह बात फिर कहां रही कि आत्मा ने आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा को स्वयं किया। हां यह बात है कि जो निर्विकार परम तत्त्वज्ञानी पुरूष है वह चूंकि शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता है। अंत: वह विभावों का कर्ता नहीं है। निष्कर्ष क्या निकालना कि यह ज्ञायकभाव ज्ञायकस्वरूप सामान्य अपेक्षा से अपने ज्ञानस्वभाव में ही रहा करता है, सामान्यदृष्टि में

परिणमन नहीं है फिर भी कर्मों के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व आदिक भावों के ज्ञान के समय में चूंकि यह जीव अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य है इसलिए पर को आत्मा जान रहा है। सो अब विशेष की अपेक्षा से अज्ञान रूप जो ज्ञान का परिणमन है उसका करने वाला बना, सो कर्ता हो गया।

अज्ञान अवस्था में कर्तृत्व—भैया ! इस अज्ञानी मोही आत्मा की बात कही जा रही है कि यह आत्मा भी सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव में ही अवस्थित है, सो ऐसा होने पर भी यहां कर्मों के उदय का निमित्त पाकर रागादिक भाव हो रहे हैं, सो वे तो इसके लिए ज्ञेय बनने चाहिये। सो उस ज्ञेय में और इस ज्ञान में चूंकि उसे भेदविज्ञान नहीं रहा, सो अब विशेष अपेक्षा से यह अज्ञान रूप परिणमने लगा। ज्ञान सामान्य का ग्रहण तो नहीं रहा, इसलिए कर्ता मानना चाहिए।

ज्ञान का ज्ञेय—भैया ! हम और आपका ज्ञेय वास्तव में ये बाह्य पदार्थ नहीं है। हम चौकी को, भींत को, आपको, घंटा को किसी को नहीं जान रहे हैं सब कोई अपने आपके ज्ञानगुण का जो ग्रहण रूप परिणमन हो रहा है उस परिणमन को जान रहे हैं तो आप क्या धन वैभव परिवार को जान रहे हैं ? नहीं। तद्विषयक राग को जान रहे हैं। सो राग जानते रहने में कुछ आपत्ति नहीं, पर ज्ञेयरूप जो राग है और जाननहार जो ज्ञान है सो चूंकि वह उस ही एक निज की बात है, भूल हो गयी, भ्रम हो गया। भेदविज्ञान न रहा सो अब राग का ही करने वाला हो गया। आप अगर राग को ग्रहण करना अच्छा मानते हैं तो राग को करना। यदि उपयोग राग को ग्रहण न करे तो परिणमन होते हुए भी उसमें करने का व्यपदेश नहीं होता। सो जब तक अज्ञान अवस्था है, इस ज्ञेय और ज्ञान में भेदज्ञान नहीं हो रहा है तब तक उसे कर्ता मानना चाहिए और जब ज्ञेय और ज्ञान में भेदविज्ञान हो जाय तब से यह आत्मा आत्मा को ही आत्मा रूप से जानने लगता है और विशेष अपेक्षा का भी फिर ज्ञानरूप से ही ज्ञान का परिणमन बना है तब केवल ज्ञाता रहता है और उसे साक्षात् अकर्ता मानना।

ज्ञानकला—इस आत्मा में एक ज्ञान गुण ही प्रधान और साधारण ऐसा गुण है कि जिसके द्वारा ही समस्त व्यवस्था और काम चलता है। अभी आपका ध्यान यदि यहां सुनने में न हो, कहीं किसी परवस्तु का विकल्प करते हो तो हम पूछ सकते हैं कि आप इस समय हैं कहां और आप भी कह बैठते है कि हम इस समय लश्कर में हैं। शरीर से और प्रदेश से तो यहां बैठे हो और कहते हो कि लश्कर में हैं। इसका कारण यह है कि उपयोग ने लश्कर को घेर लिया। तो उपयोग जहां है वहीं हम है। उपयोग अपने आत्मा में है तो हम अपने आत्मा में हैं। यद्यपि यह जीव शरीर के विकट बंधन में है, इस समय ऐसा तो नहीं हो सकता कि हम तुमसे कहें कि शरीर तो वहीं बैठा रहने दो और आपका जीव जरा सरक कर

हमारे पास आ जावे। आप कहेंगे कि भीड़ बहुत है, यहां से निकलने का रास्ता नहीं है। अरे नहीं है तो शरीर वहीं बना रहने दो और आप जीव यहां आ जावो, तो ऐसा तो नहीं किया जा सकता। फिर भी शरीर का उपयोग न रखें यह कुछ हो सकता है।

बन्धन में भी स्वातन्त्र्यदृष्टि—एक पुरूष ने अपने मित्र को निमंत्रण दिया-भाई कल १० बजे हमारे यहां भोजन करना। पर देखो आप अकेले आना क्योंकि एक के अलावा दो को खिलाने की हमारे पास गुंजाइश नहीं है। वह मित्र दूसरे दिन १० बजे पहुंच गया अकेला तो वह कहता है कि वाह हमने तो आपसे कहा था अकेले आने को। अरे तो अकेले ही तो आए है। अरे अकेले कहां आए, यह शरीर का बंडल अथवा बिस्तर तो साथ में लपेट लाये हो, विस्तर या विषतर किसे कहते है ? एक तो विष और दूसरा विष से ज्यादा विष, उसका नाम है विस्तर, विषतर याने इसमें यह अपेक्षा समझना कि विस्तर वही पुरूष रखता है जिसके गृहस्थी है, जिसके और कुछ हैं। तो विस्तर और विष कुछ नहीं है, यह तो अंदाज कराता है कि इनका जीवन विषमय वातावरण में रहता है। इसलिए उसका नाम धरा गया विस्तर। तो यह शरीर पिंडोला तो तुम लपेटकर लाये हो। हमने तो तुम्हें अकेले आने को कहा था। सो वह अकेले कैसे आता, बंधन में है, लेकिन इस जीव में ऐसी ज्ञानकला है कि शरीर में रहता हुआ भी शरीर का भान न करे और केवल ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञान को लेता रहे तो भैया ! जब यह ज्ञेय और ज्ञान में भेदविज्ञान करता हैं, राग भाव में और ज्ञान में भेदविज्ञान करता है तो अकर्ता होता है।

आत्मा का बाह्य में सर्वथा अकर्तृत्व—बाह्य पदार्थ ज्ञेय नहीं है, यह तो ज्ञेय के विषयभूत है, आश्रयभूत है। बड़े हैं, बेचारे गरीब हैं ये बाह्य पदार्थ। उन्हीं को सुधारते और बिगाड़ते हैं। जिन बेचारों ने कोई अपराध नहीं किया। न सुधार करें, न बिगाड़ते करें। परम अपेक्षा से रहित उदासीन पड़े हैं, उन पर हम आप नाराज होते है, स्नेह करते है। वे तो हमारे जानने में कभी आ ही नहीं सकते। मेरा ज्ञान गुण मेरे आत्मा के प्रदेशों को छोड़कर क्या दूर जा सकता है ? एक परमाणुमात्र भी, प्रदेश मात्र भी मेरे से बाहर ज्ञान की कला नहीं खिल सकती। तो ज्ञान जो कुछ करेगा वह अपने में करेगा। ज्ञान क्या करेगा ? जानन। वह कहां जावेगा ? अपने में । तो ज्ञान का प्रयोग किस पर हुआ ? अपने पर। तो जाना किसको एक अपने को।

अज्ञान परिस्थिति—जिसको अज्ञानी जान रहा वह अपना यह स्वयं कैसा बन रहा है ? रागरूप द्वेष रूप। ये ज्ञेय हो गए। इस ज्ञेय में और निज ज्ञान में भेद जब नहीं पड़ा था तब वह उस ज्ञेय को, उस अज्ञान रूप करने वाला हो गया था और जब इस ज्ञेय और ज्ञान में भेदविज्ञान हुआ तो अब जब जान

लिया कि यह कपटी मित्र है तो उस मित्र का आकर्षण तो नहीं रहता। जब जान लिया कि यह अहित भाव है तो उसकी ओर आकर्षण नहीं रहा। तब उस ज्ञेयरूप नहीं परिणमा, अज्ञानरूप नहीं परिणमा, किन्तु ज्ञानरूप से ही परिणम गया। ऐसी स्थिति में यह ज्ञानी जीव अकर्ता हो जाता है।

आत्मधर्म—भैया ! क्या करना है अपने को ? धर्म करना है, मोक्ष जाना है। क्या करना है ? अरे जिन अरहंतदेव के चरणों में सारे लोक आए उनकी ही तरह बनना है। इतना बड़ा काम करना है। यह कितना बड़ा काम है ? आप जान जावो। जहां लाखों आदमी झुकते हैं, जिसका स्तवन करते हैं, जिनकी भक्ति करते हैं, उनकी जो स्थिति है वह बड़ी स्थिति है। वह बड़ी स्थिति है कि यहां नोट जोड़ लेना बड़ी स्थिति है ? खूब देख लो। तो तुम्हें क्या चाहिए ? तुम्हें बड़ी स्थिति चाहिए। तब फिर क्या करना है इतना महान् बनने के लिए ? अरे भीतर ही भीतर ज्ञेय और ज्ञान में भेदविज्ञान करना है, जिसको करते हुए न आफत आयेगी, न खटपट होगी, न दूसरे जानेंगे, न बाहर हल्ला मचेगा। गुप्त ही गुप्त एक अपने आपमें अपना गुप्त काम कर लें। इसके फल में इतना महान् पद प्राप्त होता है।

अन्तर्वृत्ति द्वारा धर्माश्रय—भैया ! धर्म करने के लिए हाथ पैर नहीं पीटना पड़ता है, वह तो ज्ञान साध्य बात है, इस ही ज्ञान द्वारा जो कि ज्ञेय और ज्ञान में मिश्रण कर रहा था, स्वाद ले रहा था, राग और ज्ञान को एक मिलाकर चबाकर ग्रास बनाकर जो एक स्वाद ले रहा था वह तो था अज्ञान का परिणाम और ज्ञेय से ज्ञान को जुदा जान लिया यह राग परिणाम है, यह मेरे स्वरूप में नहीं है, यह आ टपका है, मैं ज्ञानमात्र हूँ—ऐसी वृत्ति जगह तब की बात है। जिसकी यह वृत्ति जगती है उसके कषाय व्यक्त रूप में नहीं रहती है या अधिक नहीं रहती है। वह किसी भी बाह्य प्रकरण में आसक्त नहीं होता है, ऐसा ज्ञानरूचिक पुरूष जब ज्ञान को ज्ञानरूप से ही परिणमाता है तब वह साक्षात विभाव का अकर्ता बनता है।

व्यक्त प्रभुत्व से पहिले की परिस्थिति—अब पदवी अनुसार नीचे थोड़ा आते जाइए परिणमन होता है मगर अकर्तापन है, ऐसा अकर्तापन अन्तरात्मावों के है। और परिणमता भी है व कर्ता भी है, एकमेक बना डालता है, यह है अज्ञान की अवस्था। जैसे हाथी के सामने हलुवा धर दो, चाहे कितना ही बढ़िया हो, शुद्ध हो; कितना ही घी पड़ा हो उसे धर दो और घास धर दो तो क्या उस हाथी में इतना विवेक ही नहीं है। वह तो घास और हलुवा दोनों को मिला करके अपने मुँह में डाल लेता है। उसके कोई विवेक नहीं है। इसी तरह इस रागभाव को और इस ज्ञानभाव को, राग की घास को और ज्ञान की मिठाई को यह अज्ञानी जीव कभी यह न सोचेगा कि यार, विभाव घास छोड़कर खाली ज्ञान मिठाई का स्वाद लें। उसे पता ही नहीं है। राग और ज्ञान मिला जुलाकर उनमें एक रस मानकर भोगे जा रहा है। अपने ज्ञान को

खबर ही नहीं है।

कर्तृत्व का स्याद्वाद द्वारा निर्णय—यह जीव जब भेदविज्ञान कर लेता है तब उस ज्ञान के प्रताप से अकर्ता बन जाता है। जब अज्ञानी रहता है तब कर्ता बनता है। यह जीव ज्ञान सामान्य रूप से तो ज्ञान रूप है मगर विशेषरूप से भी यह ज्ञानरूप बने, परिणमे तो जीव फिर अकर्ता होता है। निश्चयनय और व्यवहार नय इन दोनों का समन्वय होता है तब तीर्थ प्रवृत्ति होती है।

जीव से प्राण की भिन्नता या अभिन्नता—इस प्रकरण में एक प्रश्न और किया जा सकता है कि बतावो जीव के प्राण जीव से भिन्न है कि अभिन्न है ? अगर प्राण भिन्न हैं तो प्राणघात होने पर भी जीव का क्या बिगड़ा। और प्राण जीव से अभिन्न है तो जीव अमर है सो प्राण भी अमर हुए क्या बिगड़ा, हिंसा न होनी चाहिए। तो वहां उत्तर यह है कि निश्चय से तो जीव के प्राण जीव से भिन्न है और व्यवहार से जीव के प्राण जीव से अभिन्न है। अच्छा तो व्यवहार से अभिन्न हैं तो व्यवहार से हिंसा लगे, निश्चय से न हिंसा लगे। कहते है कि यह बात ठीक है। निश्चय से तो हिंसा लगती ही नहीं। व्यवहार से ही लगती है। तब तो हम बड़े अच्छे रहे। अरे अच्छे कहां रहे ? व्यवहार से हिंसा लगी और व्यवहार से ही नरक का दु:ख भोगा, सो यदि तो तुम्हें व्यवहार से नरक का दु:ख भोगना पसंद है तो व्यवहार की हिंसा करते जाइए। अगर नहीं पसंद है व्यवहार से नरक का दु:ख भोगना तो व्यवहार हिंसा भी छोड़ो। तो सर्वकथन निश्चय और व्यवहार दृष्टि से समन्वय करके जानते रहना और जो अपने प्रयोजन की बात है उस दृष्टि को मुख्य बनाइए।

आत्मप्रयोजन–यहां प्रयोजन की बात इतनी है कि जाननस्वरूप में और रागस्वरूप में भेदविज्ञान हो जाय, तथा राग का ग्रहण न करो, ज्ञानस्वरूप का ग्रहण करो। उस स्थिति में यह जीव सर्वबाधावों से हटकर मोक्षमार्गी होता है।

प्रकरण का स्पष्टीकरण—इस प्रकरण में कौनसी मान्यता में जिज्ञासु चल रहा था और उसका समाधान किया गया है ? इस बात को फिर एक बार दुहरा लें। बात यह थी कि ऐसा श्रमण जो सांख्य आशय के अनुसार आत्मा को ज्ञान का अकर्ता, राग का अकर्ता मान रहा था और कर्म प्रकृतिको सबका कर्ता मान रहा था, उसके आशय का यहां निराकरण किया गया है।

प्रकृति द्वारा ज्ञान, अज्ञान, निद्रा, जागरण की चर्चा का स्मरण अथवा जिज्ञासु ने कहा था कि देखो आत्मा को कर्म ही तो अज्ञानी बनाते हैं क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय बिना अज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। देखो कर्म ही जीव को ज्ञानी बनाते हैं क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम बिना ज्ञान की

उत्पत्ति नहीं होती। कर्म ही तो इस जीव को सुलाता है क्योंकि निद्रा नामक दर्शनावरण कर्म के उदय के बिना नींद तो आती नहीं और कर्म ही इस जीव को जगाता है क्योंकि निद्रा नामक दर्शनावरण के क्षयोपशम बिना जीव जगता नहीं है। कर्म ही सुखी करे इस जीव को ऐसा कहने में भी इतना ही मात्र भाव उसका नहीं है किन्तु सुखरूप परिणमन कर्म ही करता है और जीव उसको आत्मरूप से अंगीकार करता है, इस आशय को लेते हुए जिज्ञासु कह रहा है।

कर्म द्वारा सुख, दु:ख, मिथ्यात्व, असंयम से होने की चर्चा का स्मरण–देखो साता वेदनीय कर्म के उदय बिना जीव सुखी तो नहीं होता, इसलिए इस सुख का भी करने वाला कर्म है। असाता वेदनीय के उदय बिना जीव को दु:ख नहीं होता। इस कारण ये कर्म ही जीव को दु:खी करने वाले है और एक बात ही क्या, सभी देखते जाओ। जीव में मिथ्यात्व भाव आता है, आता क्या है, यह जीव अपने में झलकाता है। उस मिथ्यात्व को कर्म ने ही किया क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के उदय के बिना जीव मिथ्यादृष्टि नहीं हुआ करते। असंयमी भी बनता है तो यह कर्म ही बनाता है क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्म के उदय बिना असंयमी नहीं होता।

कर्म द्वारा भ्रमण, शुभ, अशुभ भाव होने की चर्चा का स्मरण—भव की भी बात देखिये, मरने के बाद जन्मता है, तो कर्म ही इसको तीनों लोकों में भ्रमाता है क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना इस जीव का भ्रमण नहीं होता है और यहां भी चलता है जिन्दावस्था में तो ये कर्म ही चलाते हैं क्योंकि विहायोगति नामक कर्म के उदय के बिना यह चल नहीं सकता। तथा जितने भी शुभ परिणाम अथवा अशुभ परिणाम है उन सब का कर्म ही कर्ता है क्योंकि शुभ अथवा अशुभ रागद्वेषादिक कर्म के उदय के बिना शुभ अशुभ भाव नहीं होते। सारी बातों को कर्म ही स्वतंत्र होता हुआ करता है, कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, इस कारण हमको तो यह निश्चय होता है कि जीव नित्य ही एकांत से अकर्ता ही है। ऐसा अध्यात्मवाद अबसे २०, ३० साल पहिले चल रहा था और आचार्यों के समय में तो चल ही रहा था, नहीं तो खण्डन किसका किया ?

बुद्धि का प्रकृति विकार मानने का रहस्य—इस जिज्ञासु का मंतव्य यह है कि राग, द्वेष, ज्ञान, अज्ञान ये सब कर्म के परिणमन हैं। निमित्त कर्ता की बात नहीं कही जा रही है, किन्तु कर्म ही इस रूप से परिणमता है और जीव है चैतन्यस्वरूप, सो बुद्धि का जो निश्चय कराया जाय उस तरह से यह अपने को झलकाता है। अब पूछें कि वह बुद्धि अलग से क्या है जिसने कि इसको इस प्रकार का निश्चय करा डाला तो बुद्धि को जीव की चीज मानने लगे तो जितनी भी शंका उठेगी वह सब बेकार हो जायेगी सो

ऐसी बुद्धि को भी प्रकृति का कार्य माना गया है।

कर्म द्वारा अब्रह्म होने की चर्चा का स्मरण—और भी आगे जिज्ञासु कहता जा रहा है कि आगमों में भी खूब लिखा है कि पुरूष वेद नामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है, और स्त्री वेद नामक कर्म पुरूष की अभिलाषा करता है तो कर्म ने कर्म की ही अभिलाषा की। इसका समर्थन हुआ ना आगम से, तो जीव तो अब्रह्म का भी कर्ता नहीं।

जीव के शाश्वत शुद्धता की मान्यता—जीव में ऐब नहीं है, दोष नहीं है, नित्य शाश्वत शुद्ध स्वच्छ है ऐसा इस शंकाकार ने कहा है और उसके द्वारा यह दृष्टांत भी दिया जा सकता है कि जैसे स्फटिक है, स्वच्छ मणि है, उसमें कोई रंग लाल पीला नहीं है पर लाल पीला रंग सामने आ जाय तो स्फटिक में लाल पीला रंग प्रतिभासता है। वहां पूछो कि लाल पीला रंग स्फटिक में प्रतिभासता है या उस समय में वह रंगरूप परिणमन भी है कि नहीं ? तो उसका उत्तर मिलेगा कि नहीं है और प्राय: यहीं भी सब से पूछ लो, यही कह देंगे कि नहीं रंगरूप परिणमा। वह तो सफेद का सफेद ही है। बड़े ध्यान से सुनने की बात है।

उपादान में परिणमन का समर्थन—अच्छा लो भाई उस स्फटिक में तो रंग नहीं आया किन्तु एक विदित मात्र ही हुआ है, ठीक है। अच्छा बतावो स्फटिक तो स्वच्छ है, इसलिए थोड़ी शंका हो सकती है पर दर्पण है, जो आरपार से स्वच्छ नहीं दिख रहा है, जिसके पीछे लाल मसाला है उस दर्पण में जब हम देखते हैं तो उसका छाया परिणमन होता है। वह छाया परिणमन उस दर्पण का हुआ है या वह भी केवल दिखने मात्र की बात की बात है। अब इसमें कुछ लगता होगा कि इसमें दिखने मात्र की बात नहीं है, छाया रूप दर्पण में परिणमन हुआ। कुछ लगा होगा अभी। और चूना में हल्दी डाल दी जाय तो सफेद चूना लालरूप जो परिणम गया है वह भी दिखने भर की बात है या परिणम गयी है ? यह स्पष्ट मान लेंगे कि परिणम गया। तो जैसे यह चूना लाल रूप परिणम गया है इसी प्रकार और पास स्वच्छ स्फटिक भी उस काल में रंगरूप परिणम गया, पर ये परिणमन सब औपाधिक हैं। सो उपाधि के सान्निध्य में तो इस रूप परिणमता है और उपाधिक अभाव में इस रूप नहीं परिणमता।

मालिन्य की औपाधिकता—भैया ! उस स्फटिक के सामने जितने काल उपाधि है उतने काल वहां उस रूप परिणमन है। उपाधि हटो कि वह परिणमन मिट गया। तो चूंकि उपाधि के शीघ्र हटा देने पर शीघ्र परिणमन मिटता है और शीघ्र सामने लाने पर शीघ्र परिणमन होता है इस कारण यह बात लोगों को जल्दी

मालूम होती है कि स्फटिक में केवल रंग दिखता है, रंगरूप परिणमता नहीं है। इसी प्रकार इस ज्ञायक स्वभावमय स्वच्छ आत्मा में कर्म उपाधि सामने है जैसा तैसा परिणम गया, न रहा तो मिट गया, इतनी बात देखकर यह आशय बना लिया गया कि आत्मा में राग परिणमन होता नहीं है किन्तु मालूम देता है और इससे बढ़कर चले तो आत्मा में ज्ञानपरिणमन भी होता नहीं है किन्तु मालूम देता है ऐसा जिज्ञासु मन्तव्य था।

समस्त भावों का प्रकृति के कर्तृत्व—जितने भी भाव कर्म हैं उन सबका करने वाला पुद्गल कर्म है। देखो ना कर्म ने ही कर्म की अभिलाषा की। अब जीव अब्रह्म कैसे हो गया, अब्रह्म का कर्ता जीव नहीं होता, अब्रह्म का कुशील का दोषी होने का सर्वथा निषेध है। जीव तो शाश्वत शुद्ध है और भी देखो जिज्ञासु प्रमाण पर प्रमाण दे रहा है जो दूसरे को मारता है, दूसरे के द्वारा मारा जाता है उसे बोलते हैं परघात कर्म इस वाक्य से कर्म ही कर्म को करता है इसका समर्थक हुआ। जीव तो हिंसा का करने वाला नहीं रहा। सो जीव सर्वथा अकर्ता है। इस प्रकार अपनी प्रज्ञा के अपराध से शास्त्र का सूत्रों का अर्थ न जानता हुआ कोई श्रमणाभास ऐसा वर्णन कर रहा है, प्रकृति को ही एकांत से कर्ता मान रहा है। सब जीव एकांत से अकर्ता हुए-ऐसा मानने पर समाधानरूप में आक्षेप दिया जा रहा है। तो इस तरह आगम में यह भी तो लिखा है कि जीव वस्तु है और वस्तु उसे कहते है जो अर्थक्रिया करे और अर्थक्रिया करने के ही मायने कर्ता है तो जीव कर्ता है यह बात तो फिर दूर हो जायगी।

भावपरिणमन के अभाव में आत्मा के अकर्तृत्व की सिद्धि—यदि तुम इसके उत्तर में यह बोलो कि नहीं जी, कर्म तो आत्मा के अज्ञान आदिक कहां समस्त पर्यायों को करता है और आत्मा अपने को द्रव्यरूप करता है। दृष्टि दी इस जिज्ञासु ने आत्मा द्रव्यपर्यायात्मक है या ना है। तो उसमें जितना पर्यायपना है उसका करने वाला कर्म है और जितना द्रव्यपना है उसका करने वाला आत्मा है। आत्मा तो एक आत्मा को द्रव्य रूप किया करता है। सो देखो जीव कर्ता भी बन गया और पर्यायों को करने वाला भी नहीं रहा। द्रव्य का करने वाला हुआ। कहते हैं कि यह बात भी तुम्हारी मिथ्या है। क्योंकि जीव तो द्रव्यरूप से नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकप्रमाण है। अब उस नित्य जीवद्रव्य में कार्यपना क्या आया क्योंकि कार्यपना यदि आयेगा, तो नित्यपना न रहेगा क्योंकि कृतकत्व का और नित्यत्व का एकांतत: विरोध है। जो बनाई गयी चीज है वह हमेशा नहीं रहा करती, जो हमेशा रहता है वह बनाया हुआ नहीं होता है। तो उसका अर्थ है कि आत्मा नित्य नहीं रहा। क्या वह तुम्हें इष्ट है ? तो जिज्ञासु को तो यह इष्ट है ही नहीं। इस कारण इस जीव ने आत्मा द्रव्य को कुछ नहीं किया।

फिर जिज्ञासु कहता है कि जीव ने द्रव्य में तो समूचे को नहीं बनाया पर देखा जा असंख्यातप्रदेशी है उन प्रदेशों को यह करता है। कहते हैं कि प्रदेशों को क्या करेगा ? क्या कोई प्रदेश कम होते है ? क्या कोई प्रदेश ज्यादा होते है ? यदि कम और ज्यादा होने लगे पुद्गल स्कंध की भांति इसका अर्थ यह हुआ कि यह आत्मा एक ही न रहा, एकत्वरूप नहीं रहा। इसलिए आत्मा ने आत्मा को द्रव्यरूप क्या किया ? इसके बाद फिर यह जिज्ञासु कहता है कि यों तो प्रदेश का कर्ता नहीं है और प्रदेश कहीं फैलता है, कहीं संकुचित होता है तो उसको संकोच और विस्तार को करने वाला तो आत्मा हुआ ना। कहते हैं कि इस प्रकार से वह आत्मा कर्ता नहीं बन सकता क्योंकि प्रदेश का संकोच भी हुआ, विस्तार भी हुआ तो भी हीनाधिक तो नहीं किए गये। लो कितनी बार अभी मुठभेड़ हुई ?

ज्ञायकत्व व कर्तृत्व के विरोधपूर्वक भावपरिणाम के प्रकृतिकर्तृत्व का समर्थन—इसके बाद आखिरी बात और कहता है यह जिज्ञासु कि भाई और बात तो जाने दो, पर यह तो बतलावो कि जो वस्तु का स्वभाव है वह कभी दूर किया जा सकता है क्या ? नहीं दूर नहीं किया जा सकता है। तो यह ज्ञायक स्वभावी आत्मा ज्ञानस्वभाव से सहित ही ठहरता है और इस प्रकार ठहरना हुआ जब नित्य रहता है तो अब यह विचार कर लीजिए कि जो ज्ञायक है वह क्या कर्ता होता है ? जो कर्ता है वह ज्ञायक नहीं, जो ज्ञायक है वह कर्ता नहीं और आत्मा सदा ज्ञायक स्वभाव से रहता ही है तब इसके मायने यही हुआ ना कि यह जीव मिथ्यात्व आदिक भावकर्मों को नहीं करता, हुआ ना ठीक।

समस्त भावपरिणमनों का प्रकृति द्वारा किये जाने का पूर्व जिज्ञासु द्वारा युक्तिपूर्वकसमर्थन—और भी देखिये जैसे कि यह प्रश्न किये जाने पर कि मुक्त तो हो जाता है जीव, लौटता तो है नहीं, तो कभी संसार खाली हो जायगा, उसके समाधान में जिस तरह यह युक्ति दी जाती है कि देखो जो जीव मुक्त हो गए हैं अर्थात् पूर्ण निर्दोष हो गए हैं, अब उनके उपादान में अशुद्धता की योग्यता ही नहीं है तो कारण बतावो कि किस वजह से फिर वह संसार में आता है ? आ तो नहीं सकता। उपादान ही ऐसा नहीं है और मुक्ति सो होती है, इससे यह जानना चाहिए कि जीव राशि इतनी अनन्त है कि उसमें से अनन्त जीव भी मुक्ति चले जायें तब भी अनन्तें जीव रहते हैं। तो जिज्ञासु कह रहा है कि महाराज आत्मा तो सदा ज्ञायकस्वभाव में ही ठहरता है, नहीं तो आप बता दें कि कभी यह ज्ञानस्वभाव में नहीं भी रहता है क्या, बोलो मुख से, रहना चाहिए ना, सदा ज्ञानस्वभाव में रहता है और जो सदा ज्ञानस्वभाव में ही ठहरता है वह कर्ता कैसे ? क्योंकि ज्ञान का और कर्ता का विरोध है लेकिन मिथ्यात्व रागादिक भाव होना जरूरी है। तब इसका किसे कर्ता मानेंगे ? सीधी बात है कि कर्म कर्ता है। समस्त भाव कर्मों का कर्ता प्रकृति है, आत्मा नहीं है ऐसा जिज्ञासु ने युक्तिपूर्वक अपना अंतिम आशय बताया।

समाधान की प्रस्तावना—इस पर यह समाधान दिया जा रहा है कि यह भी तुम्हारा केवल ख्याल ही है। जैसे किसी बच्चे को तेज नींद आ रही हो और तेज नींद में उस बच्चे को झकझोर कर जगा दो कि चलो घर, तो उसने तनिक आँखें खोलीं और फिर बंद करलीं, फिर डटकर पैर फैलाकर वह सो गया। फिर जगाया चलो-चलो उठो, फिर उसने आँखें खोली, तो उसका आँखें खोलना उन्मेष मात्र है। न उसे कुछ दिखता है और न उतनी आंखें खुलने पर भी कुछ चेत है, उसके तो बेहोशी है। वह तो जगाने वाली माता की जबरदस्ती है, सो एक आधा सेकेण्ड को पलक खुल गई, फिर गिर गये। इसी तरह ये तुम्हारे केवल ख्याल-ख्याल के ही पलक उठ रहे हैं पर इसमें जगना तुम्हारा कहीं नहीं होता। यह तो हम तुम्हारे आक्षेप लगाते थे कि जीव कर्ता नहीं रहा सो जबरदस्ती कर्ता सिद्ध कर रहे हो। सिद्ध होता नहीं है तुम्हारे मंतव्य में तब निर्णय क्या है ? महाराज आप ही समाधान करें तो निष्कर्ष रूप में निम्नांकित समाधान किया जा रहा है।

भावपरिणमनों का जीव द्वारा किये जाने के सम्बंध में वस्तुगत निर्णय—ज्ञायकस्वभाव आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभाव अवस्थित है सो तो ठीक है पर अनादि काल से जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध चल रहा है और वहां कर्म के उदय से उत्पन्न हुए रागद्वेषादिक भाव

page no 57 missing

मना कर देता है, पर आचार्यदेव यह सिद्धान्त बता रहे हैं कि जब तक रागादिक होते हैं तब तक यह जीव रागरूप परिणमता है कर्म रागरूप नहीं परिणमता, पर हां जब भेदविज्ञान हो गया तो समझ लो कि मैं ज्ञानस्वरूप होने से रागादिक को अपनी हिम्मत से नहीं करता, होते हैं उदय वश, ये परभाव हैं ऐसा जाना तब अकर्तृत्व आ गया, पर परिणमन है अभी। सो हे अरहंतों ! इस आत्मा को भेदविज्ञान से पहिले रागादिक का कर्ता मानो, भेदविज्ञान के बाद रागादिक का अकर्ता मानो।

कर्तृत्व और अकर्तृत्व का स्पष्ट विश्लेषण—यहां तक स्पष्ट शब्दों में यह बता चुके हैं कि भेदविज्ञान होने से पहिले इस जीव को तुम कर्ता समझो। यहां पर के कर्तापन के विकल्प की बात कही जा रही है। पर का कर्ता तो कोई हो ही नहीं सकता। चाहे कैसा ही अज्ञानी हो। यदि अज्ञानी जीव पर का कर्ता बन जाय तो उसमें भगवान से भी अधिक सामर्थ्य आ गयी। भगवान किसी पर को नहीं कर सकता। ताकत ही नहीं है। और इसके मंतव्य में इस अज्ञानी में इतनी ताकत आ गयी कि वह पर को करने लगा। अपने आप में जो रागादिक भाव परिणमन होता हैं उसका और अपने स्वरूप का जिसे भेदविज्ञान नहीं है ऐसा अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वरूप के आलम्बन को छोड़कर यह मानता है कि मैं रागादिक का करता हूँ और वह रागादिक का कर्ता है, किन्तु ज्यों ही इस जीव को भेदविज्ञान होता है मेरा तो मात्र ज्ञायकस्वरूप है, ये रागादिक परिणमन हो तो रहे है-पर उपाधि का त्यों ही, इस ज्ञान के होते ही जीव उनका अकर्ता हो

जाता है, फिर भी कुछ काल तक ये होते है।

ज्ञानस्थिति के दर्शन की प्रेरणा—भैया ! जैसे दर्पण में सामने रखी हुई चीज का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो उस प्रतिबिम्ब का करने वाला कौन है ? कोई नहीं है और होता तो है। तब यह निर्णय करना कि उपाधि का निमित्त पाकर यह दर्पण स्वयं की परिणति से प्रतिबिम्ब रूप परिणम गया। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होना बताना तो वस्तु के स्वभाव की रक्षा करना है, उसको मना न करना। यह अज्ञानी जीव निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं समझता है इसलिए पर का पर को कर्ता मानता है। जब भेदविज्ञान हुआ, मैं अपने सत्त्व के कारण जिस स्वरूप हूँ उस स्वरूप मात्र हूँ और उस स्वरूप का सहज अपने ही द्रव्यत्व गुण के कारण जो परिणमन होता है वह तो मेरी चीज है और जो पर-उपाधि का निमित्त पाकर रागादिक परिणमन होते है, वे मेरे नहीं हैं, उनका मैं कर्ता नहीं हूँ। इस कारण हे जिज्ञासु पुरूष ! भेदविज्ञान के पश्चात् जो ज्ञाता के उपयोग की स्थिति बनती है उसे अपनी दृष्टि में लो और यह देखो कि कर्ता भाव से च्युत अचल एक यह ज्ञाता मात्र ही है।

अपरिणामवाद का तेज जवाब देने के उमंग में एक नया पक्ष—यहां तक अपरिणामवाद के निराकरण में यह सिद्ध किया गया कि जीव के रागादिक भाव कर्म के करने वाली कर्म प्रकृति नहीं हैं, किन्तु कर्म प्रकृति का निमित्त पाकर यह अशुद्ध उपादान वाला जीव अपनी परिणति से रागादिक रूप परिणमता है। अब इसके बाद एक दूसरी समस्या आकर उपस्थित होती है कि जो करने वाला है वही जीव भोगने वाला नहीं है। एक जिज्ञासु जो यह देख रहा है कि करने के समय भाव और होते है, भोगने के समय भाव और होते हैं। करने वाला और है, भोगने वाला और है। जैसे मोटे रूप में मनुष्य ने तो तपस्या की और देव ने सुख भोगा, मनुष्य ने तो पाप किया और नारकी ने उसका दु:ख भोगा। करता तो मनुष्य है पर मनुष्य भोगता नहीं है। भोगता देव या नारकी है। सो जिज्ञासु कह रहा है कि हम तो यह मानते हैं कि करने वाला और है भोगने वाला और है। यह तो एक मोटा दृष्टांत है पर स्पष्ट बात यह है कि ये आत्मा अपने भावों को लेकर उत्पन्न होते हैं और दूसरे समय में वे समाप्त हो जाते हैं। फिर अपने भावों को लेकर दूसरा आत्मा उत्पन्न होता है। यह अपरिणामवाद के विरूद्ध तेज परिणामवाद उसको ही द्रव्य मान रहा है।

क्षणस्थायित्व के व्यवहारिक उदाहरण—जैसे जो मनुष्य था ना वह मरकर देव बन गया तो मनुष्य तो नहीं रहा, इस तरह और वृत्तिमान मानकर यह कहा जा रहा है कि क्षण-क्षण में आत्मा नया-नया उत्पन्न होता है। तभी तो देख लो यह विश्वास नहीं है कि आज हमारी मित्रता है तो कल भी रहेगी। आज

दूसरा आत्मा है कल कोई दूसरा आत्मा होगा। तो क्या विश्वास है कि कल का आत्मा मित्रता रखेगा या नहीं। क्षण-क्षण में आत्मा नया-नया उत्पन्न होता है। इसलिए करने वाला और है, भोगने वाला और है। यह है क्षणिकवाद का सिद्धान्त। सुनते ही यह सोच रहे होंगे कि यह कैसा लचर सिद्धान्त है, पर जरा उनके आशय को समझो।

क्षणिकवाद में सम्भव आक्षेप का उत्तर—जैसे दीपक में नई-नई बूंदें प्रत्येक सेकेण्ड में जल रही हैं, सेकेण्ड में नहीं, सेकेण्ड से भी हल्का जो टाइम हो, एक-एक बूंद क्षण-क्षण में जल रही है, मानो एक मिनट में हजार क्षण होते हैं तो एक मिनट में हजार बूंदें जली। और एक-एक बूंद का एक एक दिया रहा, किन्तु उन हज़ारों दियों का संतान एक है इसलिए जरा भी यह अन्तर नहीं होता कि लो अभी यह दिया था अब यह हो गया, जैसे वहां हज़ारों दीपक जल उठे एक बाती के आश्रय में, एक मिनट में, पर लगातार एक बूंद के बाद दूसरी बूंद दीपक के रूप में आई फिर तीसरी बूंद दीपक के रूप में आई, इसलिए वहां भेद नहीं मालूम पड़ता।

क्षणक्षयी के संतान में एकत्व के भ्रम का वर्णन—जब बिजली का पंखा हाई स्पीड से चलता हो तो उसकी पंखुड़ियां दिखती हैं क्या ? नहीं दिखती। यद्यपि उन पंखुड़ियों में ८-१० अंगुल का अन्तर है। बड़ा पंखा हो तो और अधिक अन्तर रहता है पर वहां भी पंखुड़ियां अलग-अलग नहीं मालूम होती। इसी तरह एक आत्मा के बाद दूसरा आत्मा होता है, पहिले वाला आत्मा चला जाता है किन्तु निरन्तर होता है इस कारण वहां अन्तर नहीं मालूम होता, यह लगता है कि वाह ! वही तो आत्मा है। यह कह रहे हैं क्षणिकवाद की ओर से। बीच में यह ध्यान रखे रहना चाहिए।

क्षणक्षयी के पूर्व आत्मा द्वारा उत्तर आत्मा को स्वाधिकार समर्पण—जैसे मजदूर लोग एक जगह से मान लो ५० हाथ दूर तक कुछ ऊपर तक उन्हें ईटें ले जाना है तो समझदार मजदूर सिर पर ढोकर ईटें नहीं ले जाते। बीच में १० मज़दूरों को पाँच पाँच हाथ दूर एक लाइन में खड़ा कर लेते हैं, एक ने ईंट उठाकर दूसरे को दिया, दूसरे ने तीसरे को दिया, इस तरह से जरा सी देर में वे ईटें ५० हाथ दूर पहुंच जाती हैं। तो इस तरह से वे ईटें कितनी जल्दी पहुंच गयी। इसी तरह से यह आत्मा मरकर अपना चार्ज दूसरे आत्मा को दे जाता है, नष्ट होकर दूसरे को चार्ज दे जाता है। इस तरह से उस चार्ज में और व्यवहार के काम में फर्क नहीं आता है। यह कह रहे हैं क्षणिकवाद की बात। इस सिद्धान्त से करने वाला और है, भोगने वाला और है। ऐसी मान्यता वाले इस मान्यता से अपना अस्तित्व खोकर बेहोश हो गए हैं

सो ज्ञानरूपी अमृत का सिंचन करके उनकी बेहोशी को दूर करना है और उनको यह देखने का यत्न कराना है कि यह सद्भूत चैतन्य एक पदार्थ है और वह परिणमनशील है अंत: नई-नई वृत्तियों को वह उत्पन्न करते है, सो वृत्ति के अंशों के भेद से वृत्तिमान का नाश मत मान लो और यह भ्रम मत करो कि करने वाला और है और भोगने वाला और है। इस ही विषय को अनेकान्त द्वारा चार गाथावों में एक साथ कह कर प्रकट करते हैं।

गाथा 345,346,347,348

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि हु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ।।३४५।।

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि हु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४६।।
सो चेव कुणइ सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४७।।
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४८।।

आत्मद्रव्य की द्विस्वभावता—बात ऐसी है कि यह जीव प्रतिसमय सम्भव होने वाले अगुरूलघुत्व गुण के परिणमन द्वार से क्षणिक होने के कारण अपने चैतन्य की सीमा का उल्लंघन न करके किन्हीं रूपों से तो यह नष्ट होता है और किन्हीं रूपों से यह नष्ट नहीं होता है। ऐसा दो प्रकार का स्वभाव जीव के पड़ा हुआ है, अर्थात् द्रव्यदृष्टि से वह नष्ट नहीं होता है और पर्यायदृष्टि से उसका विनाश होता है। एक जीव में ही क्या, प्रत्येक पदार्थ में यह द्विस्वभाव पायी जाती है। परमार्थरूप और माया रूप ये प्रत्येक पदार्थ में पाये जाते है। इसी कारण यह एकांत नहीं करना कि जो करता है वह नहीं भोगता, कोई अन्य भोगता है, या यह भी एकांत न करना कि जो करता है ऐसा वही भोगता है। यदि ऐसा मानोगे कि जो करता है वही भोगता है, किया तो मनुष्य ने और भोगा देव ने, और यदि यह कहेंगे कि करता और है, भोगता और है तो भले ही देव बनकर भोगे मगर भोगा तो उस ही जीव ने न, इसलिए यहां कोई भी एकांत नहीं करना, कथंचित् कर्ता भोक्ता न्यारे-न्यारे हैं व कथंचित् कर्ता भोक्ता वे ही के वे ही हैं।

कूटस्थता व क्षणक्षयिता में अर्थक्रिया की असंभवता—केवल क्षणिकवाद में और केवल अपरिणामीवाद में दोनों में ही काम नहीं चल सकता। सुबह आपकी दुकान से कोई उधार सौदा ले आए और आप दोपहर को पैसा मांगेंगे तो गुंजाइश है उसे यह कहने की कि सुबह और कोई आत्मा था, अब हम दूसरे आत्मा बैठे हैं।

क्षणक्षयिता के छल में एक विडम्बना का उदाहरण—एक पंडित जी के तीन चार गायें थीं। एक ग्वाला उन्हें चराया करता था। प्रति गाय १) रूपया महीना उसका बंधा हुआ था। तो जब महीना भर हो गया, दूसरा महीना लगा तो उस ग्वाले ने कहा कि पंडित जी अब गायों की चराई हमें दो। तो पंडित जी बोले कि जिसकी तुम गायें ले गए थे, वह आत्मा तो दूसरा था, अब हम पंडित जी और बैठे हैं। सो कौन चराई दे ? जिस आत्मा ने तुम्हें गायें देने का निर्णय किया था वह आत्मा तो उसी समय नष्ट हो गया, अब तो और आत्मा है। यह उत्तर सुनकर वह ग्वाला चला गया। दूसरे दिन उसने सब गायें अपने घर में बाँध लीं। रोज गायें पहुंचा देता था पंडित जी के यहां, पर उस दिन न पहुंचायी। पंडित जी ग्वाला के यहां गये, बोले आज हमारी गायें क्यों नहीं बांधने आये ? तो ग्वाला कहता है कि पंडित जी जो सुबह गैया ले गया था वह आत्मा दूसरा था, अब मैं दूसरा हूँ। सो तो सुबह ले गया होगा वही आत्मा बांधने जायेगा। पंडित जी बोले कि तुम्हीं तो लेकर गये थे तो ग्वाला कहता है कि पंडित जी तुम्हीं ने तो हमें गैया चराने को दी थी। हमें गैयों की चराई दे दो।

स्याद्वाद बिना व्यवस्था की अनुत्पत्ति—सो भैया ! व्यवस्था कहां बन सकती है? क्षणिकवाद में भी वस्तुस्वरूप का यथार्थ दिग्दर्शन कराने वाले स्याद्वाद सिद्धान्त की सामर्थ्य तो देखो-इसके बिना व्यवहार भी नहीं चल सकता, तत्त्वज्ञान भी नहीं हो सकता, शांति का उपाय भी नहीं पाया जा सकता। सो वस्तु में ऐसा अनेकांत है कि यह जीव जो करता है, भोगता दूसरा जीव है, यह भी सही है और यही करने वाला है, यही भोगने वाला भी है, यह भी सही है। जीव में द्रव्यपर्यायात्मकता का स्वभाव पड़ा हुआ है। द्रव्यदृष्टि में जो कर्ता है वही भोक्ता है, पर्यायदृष्टि में करने वाला और है व भोगने वाला कोई दूसरा है—ऐसा अनेकांत होने पर भी जो पुरूष उस क्षण में वर्तमान ही परिणमन को, वृत्ति को परमार्थ सत् के रूप से वस्तु मान लेते हैं,, सो उन्होंने अपने ज्ञान में तो चतुराई की कि भाई शुद्धनय का परिज्ञान करो, ऐसा शुद्ध देखो कि जिसका फिर खण्ड न हो सके। ऐसा शुद्ध वर्तमान एक समय का परिणमन मिला, उसका खण्ड नहीं हो सकता। तो शुद्ध ऋजुसूत्रनय के लोभ से वे इस एकांत में आ गए कि जो करता हैं वह नहीं भोगता। दूसरा कर्ता है दूसरा भोक्ता है, सो ऐसा जो देखता है वह मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिए।

स्याद्वादसिन्धु से सिद्धान्त सरिताओं का शरण—स्याद्वाद की कुंजी बिना सिद्धान्तों का जाल इतना गहरा है कि सीधी सीधी सामने की बात तो न मानी जाय और टेढ़ी मेढ़ी जिसको सिद्ध करने में जोर भी पड़ता हैं, बातें भी ढूंढ़नी पड़ती हैं, ऐसी बात मानने में अपनी बुद्धिमानी समझी जाती है। ठीक है। कीमत तो तब बढ़ेगी कि जैसा सीधा जानते हैं वैसा न कहकर कोई विचित्र बात बतायी जाय तभी तो बुद्धिमान् बन पावोगे। तो ऐसा वाग्जाल एकांत सिद्धान्त का हुआ। अथवा कुछ वाग्जाल नहीं है। ये सर्वसिद्धान्त स्याद्वाद सिन्धु से निकले हैं। कौनसा सिद्धान्त ऐसा है जो वस्तु में सिद्ध न होता हो ? किन्तु दृष्टि और अपेक्षा लगाने की सावधानी होनी चाहिए।

क्षणिक वृत्तियों में वृत्तिमान की ध्रुवता—बात यहां ऐसी है कि यद्यपि जीव की वृत्ति क्षणिक है अर्थात् जो परिणमन जिस समय में हुआ है वह परिणमन अगले समय में नहीं रहता, फिर भी जिस आधार में जिस वस्तु का यह परिणमन चल रहा है, ऐसी वृत्तिवाला पदार्थ चैतन्य चमत्कार मात्र यह जीव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अंतरंग में प्रतिभासमान् शाश्वत रहता है। यह कुछ दार्शनिक चर्चा थोड़ी सी आध्यात्मिक शैली में की गयी। अध्यात्मग्रन्थों में दर्शनशास्त्र की चर्चा अधिक नहीं होती है, कुछ प्रकरण वश यह कह दिया गया है। इसके लिए तो जो न्याय ग्रन्थ हैं प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, न्यायकुमुद चंद्रोदय आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए। उनसे यह बात और स्पष्ट ज्ञात होती है।

क्षणिकवाद अपरिणामवाद की प्रतिक्रिया—भैया ! प्रयोजन यहां इतना था कि जैसे परिणति से स्वयं सुख दु:ख करने वाला मानने वालों को यह खतरा था कि वे स्वच्छन्द हो जाते, हम तो शुद्ध ही हैं, कौन खाता, कौन पीता, कौन राग करता, यह सब प्रकृति करती है। सो इसमें अपने आप मोक्षमार्ग का उसे उत्साह ही न जगता। तो उसका यहां खतरा बचाया अर्थात् अपरिणामी मानता था सो उसे परिणामी बता दिया कि नहीं यह जीव परिणामी है, परिणमनशील है। अब इतनी बात सुनकर इस क्षणिकवाद ने बहुत तेज परिणाम मान लिया और इतना कि उन परिणामों को परिणमन ही न कहकर पूरी वस्तु कह डाला। तब यह दूसरी शंका खड़ी हुई कि करने वाला और है, भोगने वाला और है। इस तरह दोनों एकांतवाद में मोक्ष का हल न निकल सका।

एक पदार्थ में द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि के निर्णय—देखो भाई कितना अंधेर मच गया कि करता तो और है, भोगता और है। अपराधी तो अपराध करे और निरपराधी दंड भोगे। इसका क्या उत्तर है ? तो क्षणिकवाद का उत्तर बतलाते हैं कि अपराध वहां इतना है कि यह भ्रम लग गया कि यह मैं आत्मा वही हूँ जो पहिले था। ऐसा मानने का अपराध न करता तो भोगता नहीं कुछ दंड। अहो ! ये सब बातें पदार्थ की

द्विस्वभावता जाने बिना घर करती है। जीव में द्रव्यपर्यायात्मकता पड़ी हुई है, सो द्रव्यदृष्टि से यह जीव वही का वही है और पर्यायदृष्टि से वह पर्याय नहीं है जो पर्याय पहिले थी, अब वह पर्याय दूसरी हो गयी। मगर बात क्या है और किस तरह से उसका समर्थन किया जा रहा है ?

विद्या के साथ प्रतिभा की आवश्यकता—दो भाई थे। तो छोटा भाई बनारस पढ़ करके बड़ा विद्वान् होकर लौटने लगा। सो जब घर लौटने लगा तो घोड़े पर बड़ी-बड़ी किताबें लादकर और भी अपना सामान लादे हुए एक गांव से निकला। उस गांव में वह बोला कि हम विद्वान् हैं, काशीजी से पढ़कर आए हैं, कोई शास्त्रार्थ करना चाहे तो आ जाये मैदान में। सो उस गांव में एक पुराना चौधरी था वह शास्त्रार्थ करने को आया। वह पहिले ही ठहरा लेता था कि अगर हम हार गए तो अपना सारा धन तुम्हें दे देंगे और अगर जीत गए तो हारने वाले का सारा सामान हम ले लेंगे। सो उससे भी ठहरा लिया कि अगर हार गए तो सब कुछ छीन लेंगे। विद्वान् ने कहा कि अच्छा करो प्रश्न। उसने कहा सरपटसों। दो उत्तर। उसने कही भी सरपटसों न पढ़ा था, सो क्या उत्तर दे ? शास्त्रों को इधर-उधर उल्टा-पुल्टा पर कही सरपटसों न मिला। सो वह हार गया। चौधरी ने उसका सब सामान छीन लिया। जब वह अपने घर गया तो भाई से सारा किस्सा कह सुनाया। भाई बोला कि तुम पढ़े लिखे हो पर गुने नहीं हो। बोला कि हम जाते हैं शास्त्रार्थ करेंगे।

अब बड़ा भाई घोड़े पर अखबार वगैरह लाद लूदकर शास्त्रार्थ करने उस गांव पहुंचा। बोला कि हम विद्वान् हैं, शास्त्रार्थ जिसको करना हो कर सकता है। आ गये वही चौधरी साहब। तो चौधरी साहब ने कहा कि यदि तुम शास्त्रार्थ में हार जावोगे तो सब तुम्हारा सामान छीन लेंगे और यदि जीत जावोगे तो अपना सारा सामान दे देंगे। कहा अच्छा करो प्रश्न। चौधरी साहब ने वही प्रश्न किया सरपटसों। दो उत्तर। वह बोला कि तू तो कुछ समझता ही नहीं है, अधूरा श्लोक बोल रहा है। उसने चौधरी को उठा लिया, फिर जमीन पर पटका और कहा कि पहिले धम्मक धइयां, फिर सूषा की तरह पटका तो कहा कि पट्टक फों। फिर जमीन पर खूब पटका, ,खिचड़ी सी पकाया कहा खदर बदर, फिर कहा सरपट सों। याने खिचड़ी की सरपट सों करना हो तो सारी विधि इस छन्द में बताई गई है कि पहिले करो धम्मकधों याने उखरी में चावल कूटो फिर करो, फट्टक फों याने सूप से फटक लो, चावल शुद्ध कर लो फिर हंडी में खदर बदर करो याने पकावो जब खिचड़ी पक गयी तब तो होगी सरपटसों कि पहिले हो जावेंगी याने खिचड़ी पक जाने पर ही तो सरपटसों करके खायी जायेगी। तो कहा कि तुम हारे कि नहीं ? हारे। सो चौधरी साहब का जितना धन था सब छीन छानकर और भाई का जो सामान था वह भी छीन छानकर उसी घोड़े पर लादकर घर आया। सो भैया, किसी भी बात में कुछ प्रतिभा का भी तो कार्य करना चाहिये।

पदार्थ में द्रव्यपर्यायात्मकता की दृष्टि—इस प्रकरण में सर्व प्रथम यह बात बता रहे है कि द्रव्ययायार्थिकनय की दृष्टि से जो कर्म को करते हैं वे ही कर्म को भोगते हैं क्योंकि द्रव्यायार्थिकनय से जब तत्त्व को देखते हैं तो वही जीव है अब मनुष्यपर्याय में है जो जीव पहिले किसी अन्य पर्याय में था तो जिसने पहिले किया था वही अब भोग रहा है, पर पर्यायार्थिकनय से देखा जाय तो करने वाला और होता है, भोगने वाला अन्य होता है, ऐसा जो मानता है वह है सम्यग्दृष्टि। पर्यायार्थिकनय का मतलब है कि पर्याय ही देखने का जिसका प्रयोजन हो। जब पर्याय के रूप से वस्तु को निरखते हैं तो किन्ही पर्यायों से तो यह नष्ट होता हैं और किन्ही पर्यायों से यह उत्पन्न होता है।

उत्पाद व्यय की युग पत्ता—भैया ! नष्ट होना और उत्पन्न होना एक ही समय में होता है, भिन्न-भिन्न दो समय नहीं हैं। जैसे घड़ा फूट गया, खपरियां हो गयी तो घड़े का फूटना और खपरियों का बनना दोनों एकसाथ होते हैं, याने खपरियों के ही बनने का नाम फूटना है। तो केवल चाहे संभव संभव से देखते जावो और विलय विलय से देखते जाओ, प्रत्येक समय नया-नया परिणमन होता रहता है। भोगने वाला भी द्रव्य नहीं है, पर्याय है, करने वाला भी द्रव्य नहीं है, पर्याय है। यह पर्याय द्रव्य से अलग नहीं है कि द्रव्य तो कर्ता भोक्ता से रहित है और पर्याय कर्ता भोक्ता है ऐसे दो भाई नहीं हैं कि बराबरी के किन्तु द्रव्य परिणमनशील है, सो उस वस्तु में जो परिणमन अंश तका जा रहा है वह तो करने वाला और भोगने वाला है और उस ही पदार्थ में जो अपरिणामी अंश तका जा रहा है वह न करने वाला है और न भोगने वाला है। कोई दो भाईयों की तरह बराबरी के दोनों नहीं है कि द्रव्य भी है और पर्याय भी है। वस्तु एक है पर वह शाश्वत है और परिणमनशील है। शाश्वत अंश को देखते हैं तो वहां कर्ता भोक्ता नहीं बनता और परिणमन अंश को देखते हैं तो वहां कर्ता भोक्ता बनता है।

दृष्टियों से सिद्धान्त का निर्णय—जब यह जीव द्विस्वभाव वाला है सो द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से वह ही पुरूष कर्म को करने वाला है जो भोक्ता है किन्तु पर्यायार्थिक दृष्टि से करने वाला दूसरा हो गया, भोगने वाला दूसरा हो गया, एकांत नहीं है, इसी तरह भोगने में भी लगावो वह ही भोक्ता है जो कर्ता है, यही है द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि की बात। सो भी अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। जो जीव कर्ता है वह ही जीव भोक्ता है। यह द्रव्यार्थिकनय से तो है परन्तु अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से हैं, अर्थात् जिसमें कर्ता भोक्ता की कल्पनाएँ बनायी गयी है ऐसा द्रव्य करने वाला और भोगने वाला है। पर्यायार्थिकनय से करने वाला और है, भोगने वाला और है। पढ़ा तो विद्यार्थी ने है और नौकरी करी पंडितजी ने, पढ़ा तो स्टूडेन्ट ने और सर्विस करी बाबूजी ने। तो इसमें द्रव्यार्थिकनय दृष्टि से देखो तो जीव यही है जिसने पढ़ा था और उसी ने सर्विस की। पर पर्यायार्थिक दृष्टि से देखो तो पढ़ने के समय की इच्छा आदतें सब भिन्न थी और अब

सर्विस के समय इच्छा आदतें सब भिन्न हैं। सो करने वाला और है, और भोगने वाला और है।

पर्याय के अनुरूप व्यावहारिकता-जैसे किसी की पहिले घनिष्ठ मित्रता हो तो मित्रता के समय में बहुत से वायदे कर लिए जाते हैं और बहुत से सहयोग की बातें की जाती हैं। तो बड़े वायदे किये मित्रता में और बड़ा सहयोग दिया, फिर बीच में उस दूसरे मित्र ने कुछ कपट खेला जिससे उसका दिल फट गया। अगर वह कपटी मित्र से कहे कि क्यों भाई कल तो तुम यों कह रहे थे, आज क्या बन गये, तो वह क्या कहता है कि कल यह दूसरा था आज दूसरा बन गया। अर्थात् कल तक जो आत्मा था वह अब नहीं रहा। तो पर्याय की मुख्यता ही तो रही।

पर्याय के अनुकूल गति—एक मित्र था, सो वह बीमार मित्र को देखने गया, बड़ा तेज बुखार था। खबर पूछी कहो भाई कैसी तबीयत है ? वह कहता है कि क्या बताऊँ भाई तबीयत बड़ी खराब है, बिस्तर से उठा नहीं जाता, बोला नहीं जाता। खबर दबर लेकर वह चला गया। दूसरे दिन फिर वह मित्र गया। वह मर चुका था। लोगों से पूछता है दरवाजे पर कि कहो भाई मित्र की तबीयत कैसी है ? कहा कि वह तो दुनिया से चला गया। उसे बड़ा गुस्सा आया। बोला कि कल तो यूं कहे थे कि बिस्तर से उठा जाता नहीं और आज दुनिया से भी चलने की ताकत आ गई। अरे भाई जो बिस्तर से उठा नहीं जाता था वह परिणमन दूसरा था, अब जो दुनिया से चला गया वह परिणमन दूसरा है। तो वही कर्ता है और वही भोक्ता है यह द्रव्यार्थिकनय से है। करने वाला और है भोगने वाला और है, यह पर्यायार्थिकनय से है।

परिणति की विविधता व ज्ञान का सामन्जस्य—मनुष्य भव में जो शुभ कर्म किया उसको देवलोक में जाकर भोगेंगे, ठीक है, पर उसने ही तो भोगा ना और जब पर्यायार्थिक की मुख्यता से देखा तो जो करने वाला है वह भोगने वाला नहीं है, अन्य भोगने वाला है। मनुष्य ने किया और देव ने फल भोगा ऐसा हो ही जाता है। जो आपके आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य समंतभद्र, अकलंकदेव आदि बड़े ज्ञानी तपस्वी आचार्य हुए हैं तो जब वे आचार्य थे तब तो ऐसी बातों को कहा करते थे कि विषभोग असार है, देवगति हेय है, इन सब बातों का वर्णन करते थे और अब्रह्म की तो बहुत अधिक निन्दा करते थे, तो वे मोक्ष तो गए नहीं, अंदाज ऐसा है कि देव हुए होंगे, तो सैकड़ों हज़ारों देवियों के बीच गानतान होते रहते होंगे, मस्त होते रहते होंगे, यह हाल हो रहा होगा, जो शुभ कर्म किया उसका फल भोगा, पर सब ज्ञान की महिमा है, ऐसा तो उन्हें होना ही पड़ा होगा, पर भेदविज्ञान वहां भी जागृत होगा तो सब महफिल के बीच रहकर भी वे अपने ज्ञान और वैराग्य की दृष्टि बनाये होंगे।

ज्ञान से ही संभाल—भैया ! संसार की परिस्थितियों से बचकर कहां जायें ? यहां जो अपने ज्ञान को और वैराग्य को संभाल सकता है उसकी ही विजय है। जैसे यहां गृहस्थी में रहकर कोई यह सोचे कि इतना उद्यम कर लें इतने धन का अर्जन कर लें, बच्चों को इतना पढ़ा लिखा दें, इनकी शादी कर दें तब निश्चिंत हो जायें, फिर खूब धर्मसाधना करेंगे, तो वह कभी निश्चिंत हो ही नहीं सकता। क्या करें, धन कमा लिया, फिर इच्छा होगी कि इतना और कमा लें, धन कमा लेने के बाद उसकी रक्षा करना है। लड़के की शादी कर दी, लड़की की शादी कर दी, फिर किसी लड़का था लड़की की शादी करना है। अभी एक नाती की शादी कर ली, फिर दो साल बाद एक नाती हो गया। फिर उसकी शादी करने की बारी आयी। एक साल में ही लड़के पैदा होने का हिसाब एक घर में ही लगा लो किसी के ५-६ लड़के हों तो एक का एक लड़का हुआ, फिर एक साल बाद दूसरे के लड़का होने का नम्बर आयेगा। अब बतलावो कब निवृत्त होंगे ? तो बाहर में हम परिस्थितियों को इस प्रकार बना लें तब आराम से निर्विघ्न निश्चिंत होकर धर्मसाधना करेंगे यह सोचना बिल्कुल व्यर्थ है।

धर्मसाधनार्थी का कर्तव्य—जिसके धर्मसाधना की मंशा हो, कैसी ही विकट आज की परिस्थिति हो उस परिस्थिति में भी अपना समय अपना उपयोग धर्मसाधना में लगाएँ। वह बात तो है सच्ची और इतना संचय कर लें, यह कर लें ऐसा सोचना है बिल्कुल झूठ। रात्रि के समय अष्टाह्निका में अरहद्दास सेठ की ७ सेठानी बातें कर रही थी। सम्यग्दर्शन की कथा हो रही थी। सम्यग्दर्शन मुझे इस तरह हुआ। तब सबने कहा बिल्कुल सच। छोटी सेठानी कहे बिल्कुल झूठ। दूसरी सभी सेठानी कहें बिल्कुल सच। वे सभी बातें पीछे खड़ा-खड़ा राजा सुन रहा था। राजा सोचता है कि यह कथन तो हमारे सामने का है, फिर यह छोटी सेठानी झूठ क्यों कहती है ? सोचा कि कल न्याय करेंगे। सेठानी के घर भर को राजा ने बड़े आदर से बुलाया। राजा ने छोटी रानी से पूछा कि बतावो बेटी, रात्रि को जो सम्यग्दर्शन की कथा हो रही थी उसमें सभी सेठानियों ने तो कहा कि बिल्कुल सच और तुम कह रही थी बिल्कुल झूठ। तो बतावो क्या बात थी ? छोटी सेठानी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। सारे गहने अपने उतार दिये, सारे कपड़े उतारकर केवल धोती पहनकर चल दी, और कहा कि महाराज सच तो यह है। जंगल को चल दी।

अन्त:पुरूषार्थ की आवश्यकता—सो भाई ! गप्पों से पेट नहीं भरता, यह बात तो जल्दी समझ में आ जाती है क्योंकि पेट में तो ऐसी खलबली सी मचती है। तो यह बात समझ में जल्दी आ जाती है। ज्ञानवृत्ति द्वारा ज्ञान को लक्ष्य में लें, महान् पुरूषार्थ जगे तो शांति मिलती है, बातों से शांति नहीं मिलती है। इसका नाम बात रखा है। बड़ा अच्छा नाम है। बात हवा को भी कहते हैं। बातें करना मायने हवा के घोड़े उड़ाना अथवा बात करना मायने हवा जैसी बातें छूटना तो बातों से काम नहीं बनता। जो मार्ग बताया है उस मार्ग से चलें तो शांति प्राप्त होती है अन्यथा नहीं।

गप्पों से सिद्धि का अभाव—अभी यहां से कोई ग्वालियर जा रहा हो तो कोई सेठानी उससे कहे कि देखो हमारे मुन्ना को एक खेलने को पेंच का जहाज ले आना, फिर कोई दूसरी सेठानी कहे कि हमारे मुन्ने को खेलने को रेलगाड़ी का इंजन ले आना, कोई सेठानी कहे कि हमारे नन्हे मुन्ना को खेलने की मोटर ले आना। इसी तरह दसों सेठानी आकर उससे कुछ न कुछ लाने को कहें, और एक कोई बुढ़िया उसे तीन नये पैसे नकद देकर कहे कि हमारे मुन्ना को एक मिट्टी का खिलौना ले आना। तो वह कहेगा कि बुढ़िया मां मुन्ना तो तेरा ही खिलौना खेलेगा और सभी सेठानियों ने तो गप्प मार दी है। उनके मुन्ना खिलौना नहीं खेल सकते। सो उपयोग वही आनन्दमग्न होगा जिस उपयोग ने अपने आत्मस्वरूप को लक्ष्य में लिया है, ज्ञानस्वरूप को जिसने ज्ञान में लिया है वही उपयोग आनन्दमयी हो सकेगा, बाकी तो सब बातें हैं।

परिणमनों की योग्यतायें—जिसने किया उसने ही भोगा, यह भी सत्य है। किया दूसरे ने, भोगा दूसरे ने यह भी सत्य है। जैसे कोई बालक छोटी उमर में ही बी० ए० पास हो गया तो भी उसका खेलना दौड़ना कूदना फांदना बंदर की तरह ही होगा। अब कोई कहे कि अरे तुम बी० ए० हो गए, अब तो बड़े बाबूजी की तरह रहा करो, तो वह क्या करे, बचपन ही तो है। और वही पुरूष जवान हो जाय तो कहो कि उसी तरह बच्चों जैसा खेलों, कूदो, दौड़ों तो वह वैसा नहीं कर सकता है। ये जो वृद्ध बैठे हैं ये भी कभी बच्चे थे, आज के बच्चों से बढ़िया बच्चे थे। अब बच्चों का उतना लाड़ प्यार नहीं रहा जितना कि पहिले था। अब इन बूढ़ों से कहो कि वैसी ही क्रियाएँ करो जो बचपन में करते थे—खेलते कूदते थे, निर्विकार रहते थे, वैसी ही क्रियाएँ अब भी करो, तो वे अब कहां से वैसी क्रियाएँ करें ?

द्रव्यपर्यायमय पदार्थ में एकान्त के आशय का मिथ्यापन—इस एक भव में ही बाल्यावस्था में लगाए हुए पेड़ का फल जवानी में भोगने को मिलता है। किसी ने बचपन में कोई पेड़ लगा दिया तो वह पेड़ १० वर्ष के बाद में तैयार होगा, फिर उसमें फल आयेंगे। तो भवांतर की अपेक्षा भी यह बात है कि मनुष्य ने किया और देव पर्याय ने भोगा, तो करने वाला और है, भोगने वाला और है। तो ऐसा एकांत मान ले कोई कि नहीं भाई जो करता है सो भोगता है, अथवा ऐसा एकांत मान लिया कि करने वाला और है, भोगने वाला और है तो उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना, क्योंकि जब एकांत से नित्य कूटस्थ अपरिणामी टंकोत्कीर्णवत् निश्चल यह पुरूष है तो उसका परिणमन तो हो ही नहीं सकता। मनुष्य से देव बनना तो उसके होता ही नहीं है। वह तो वही का वही है तो फिर कर्ता भोक्ता बने कैसे ? अथवा मोक्ष का भी साधन वह क्या करेगा ? वह तो कूटस्थ अपरिणामी है।

कूटस्थता का तात्पर्य—भैया ! कूटस्थ मायने क्या हैं कि जो लुहार की दुकान में धौंकनी लगी रहती है, उसके आगे एक लोहे का बड़ा चौड़ा मजबूत डंडा गड़ा रहता है जिस पर गरम लोहा धरकर कूटा जाता है उसका नाम है निहाई। तो आप देखो कि गर्म लोहे को उस पर रख लिया और संमसी से पकड़ लिया। कूटने वाले तीन लोग खड़े हो गए। बारी बारी से घमाघम कूटते हैं, उस समय कूटने वालों के हथौड़े भी बड़ी तेजी से चल रहे हैं, जो लोहा कुट रहा है वह भी खूब परिणमन कर रहा है, समसी भी अपनी क्रियाएँ कर रही है, पर निहाई महारानी एक जगह जहां की तहां धरी है। जरा भी नहीं हिलती। तो जैसे वह निहाई कूटस्थ है कहीं परिणमन नहीं करता, इसी तरह जिसका आत्मा कूटस्थ है, रंच भी परिणमन नहीं करता। कहते हैं कि जब परिणमन ही नहीं है तो वहां करने और भोगने का सवाल ही नहीं उत्पन्न होता। मोक्ष का साधन काहे करना ?

एकान्त के हट में आपत्ति—अच्छा तो इस अपरिणामीपन का एकान्त मानने में यह दोष आया और जो सिद्धान्त ऐसा मानते कि करने वाला और है, भोगने वाला और है, सर्वथा भिन्न है, तो जैसे मनुष्य भव में पुण्यकर्म किया, उस पुण्यकर्म का देवलोक में अन्य कोई भोक्ता हुआ तो बिना ही करे दूसरा भोक्ता हुआ तो ऐसी हमें क्या गरज पड़ी कि तपस्या में तो हम मरे और देव बनकर दूसरा आत्मा मौज लूटे। मुनि तो साधु बने और कर्म कट जाने पर दूसरा मौज लूटे। कहते हैं कि करने वाला और भोगने वाला बिल्कुल भिन्न है तो समझलो कि वहां कुछ व्यवस्था नहीं रह सकती। इस तरह सामने दो पुरूषों का जवाब दिया जा रहा है। जो नित्य अपरिणामी मानता है उसके यहां क्या आपत्ति आती है और जो सर्वथा क्षणिक न्यारा-न्यारा मानता है उसके क्या आपत्ति आती हैं ?

असत् की उत्पत्ति में आपत्ति—भैया ! सीधा हम यह भी कह सकते कि जब न्यारा-न्यारा आत्मा पैदा होता है तो यह क्या वजह है कि उस ही शरीर में जो नया आत्मा पैदा हो वह पहिले के किए हुए का भोगने वाला बने ? कभी नहीं हो सकता कि आप करने वाले हो जाएँ और हम भोगने वाले बन जाएँ, क्योंकि हम आपसे भिन्न हैं, और एक शरीर में भी जो नये-नये आत्मा बनते हैं वे भी भिन्न हैं। इस कारण यह बात नहीं बनती है कि करने वाला और है और भोगने वाला और है। एक समाधान इसमें यह कहते हैं वे क्षणिकवादी हैं, भाई एक शरीर में जो नये-नये आत्मा बनते हैं उनमें तो यह बात बन जाती है कि एककी की हुई बात को दूसरा भोग ले। जैसे एक दीपक की नई-नई बूंदें जलती है तो वहां संतान बन जाते हैं पर भिन्न-भिन्न दीपकों में उन बूँदों में संतान नहीं बन सकते। किन्तु यह बात भी ठीक नहीं बैठती। कारण यह है कि इस जगत् में कोई भी वस्तु ऐसी नई पैदा नहीं होती, जिसका उपादान कुछ न हो और हो जाय। असत् चीज पैदा नहीं होती। असत् चीज पैदा होने लगे तो कहो यहां १०, २० सिंह अभी पैदा

हो जायें। और हम आप सभी को यहां से भागना पड़ेगा, पर कैसा विश्वास है कि यहां सिंह पैदा ही नहीं हो सकते। क्योंकि न यहां सिंह है और न सिंहनी है। कुछ भी हो, असत् चीज कभी पैदा नहीं होती। तो यह वस्तु की व्यवस्था है कि जो सत् हैं वही अपनी नई नई अवस्था बनाता है।

शुद्धता के आशय में गमन का चिन्तन—तो यहां यह प्रकरण बताया है कि तुम अपने आत्मा का यह निश्चय करो कि मेरा आत्मा वही है जो पहिले था, किन्तु अवस्था पर्यायें नई-नई बनती रहती हैं, ऐसा नित्यानित्य स्वभावरूप यह मेरा आत्मा है। अब इस आत्मा की शुद्धता का लोभ लग गया सबको। क्या जैनों को इसका लोभ नहीं है ? पर अपरिणामवादियों ने इस आत्मा को इस ढंग से शुद्ध माना है कि वह परिणमता ही नहीं है तो अशुद्ध क्या बनेगा और क्षणिकवादियों ने आत्मा को इस तरह शुद्ध माना है कि वह एक समय रहता है दूसरे समय रहता ही नहीं, तो खोटा क्या बनेगा ? तो शुद्ध मानने के लिए दोनों के अभिप्राय में बेईमानी किसी के नहीं है पर स्याद्वाद का मार्ग मिले बिना अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकते। अरे वस्तु वह एक ही है। द्रव्य दृष्टि से देखो तो यह शाश्वत शुद्ध है, पर्यायदृष्टि से देखो तो यह अभी अशुद्ध है और अशुद्ध मिटकर कभी शुद्ध भी बन सकता है, यह यहां इस प्रकरण का निष्कर्ष है।

शुद्धता के लोभ में सत्त्व का भी विनाश—पहिले यह प्रकरण चल रहा था कि जीव अपरिणामी है। जीव में किसी भी प्रकार की कोई तरंग नहीं होती। तब क्षणिकवाद में जहां जीव अपरिणामी बताया गया है, न मानने पर क्षणिक वादियों को यह दिखता है कि यह जीव नित्य बन जायेगा, कई समयों में रहने वाला बन जायेगा तो इसमें काल की उपाधि लग जायेगी। शुद्ध देखने का ध्येय अपरिणामवादियों का भी है, शुद्ध देखने का ध्येय वृत्त्यंशवादियों का भी है, अपरिणामवादी जीव को निस्तरंग देखने में शुद्ध का संतोष करते हैं, और क्षणिकवादी एक ही समय रहते हैं पदार्थ, जब दूसरे समय नहीं रहते हैं तो उसमें अशुद्धता की बात ही क्या करें, इस तरह से अधिक शुद्ध मानने का यत्न करते हैं। सो इस चैतन्य को क्षणिक मानकर शुद्ध ऋजुसूत्रनय से प्रेरित होकर इन क्षणिकवादियों ने आत्मा का ही त्याग कर दिया।

निरंशवाद का सिद्धांत—यहां एक बात खास जानने की यह है कि जब तक उनका पूरा सिद्धान्त जानने में नहीं आये तब तक ऐसा लगता है कि इसने कुछ कहा ही नहीं है। क्षणिकवादी केवल पदार्थ को एक समयवर्ती मानते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में से यहां काल का निरंशपना है। उनका सिद्धान्त है कि पदार्थ द्रव्य से निरंश है, क्षेत्र से निरंश है, काल से निरंश है, भाव से निरंश है। काल से निरंश होने का अर्थ है क्षणिक होना, एक समय ही रहना और द्रव्य से निरंश का अर्थ है अविभाज्य एकात्मक होना। शक्ति का पुंज नहीं है, पर्याय का पिण्ड नहीं है, गुण पर्याय का पिण्ड मानने पर द्रव्य का निरंश नहीं रह सकता। तो द्रव्य भी निरंश है, अर्थात् एकात्मक है, अनन्तगुणों का पिण्ड नहीं है।

क्षेत्र से निरंश होने का मतलब है कि प्रत्येक द्रव्य एकप्रदेशी है, क्षेत्र से उसका अंश नहीं है, बहुप्रदेशी नहीं है। यदि बहुप्रदेशी बन गया तो उसमें निरंशपना नहीं रहता। निरंशपना ही परमार्थ तत्त्व है, यही तो निरंशवादियों का मूल सिद्धान्त है।

निरंशता के एकान्त में आत्मविनाश—भैया ! निरंशता का तो आप भी आदर करते हैं। जब प्रभु की पूजा करते हो तो कहते हो कि हे प्रभु ! तुम निरंश हो । यहां निरंश का भाव है अवाणु शुद्ध। काल का निरंशपना है एक समयमात्र ही पदार्थ का रहना, और भाव का निरंशपना है वस्तु का स्व लक्षण मात्र होना। पदार्थ का कोई भी लक्षण, चिन्ह, परिचय, मुख से नहीं कह सकते। जो मुख से कहते हैं वह सब व्यवहार है। परमार्थत: जो सत्य है वह स्वलक्षणमात्रपना है। इस प्रकार चारों दृष्टियों से पदार्थ को निरंश मानने वाले निरंशवादी पदार्थ को क्षणिक मानकर कर्तृत्व भोर्क्तृत्व की एकता का निराकरण कर रहे हैं। सो और इसी स्थिति में उन्होंने आत्मा ही छोड़ दिया। जैसे माला से सूत टूट जाय तो उसकी सभी गुरियां ग्रहण में नहीं आ सकतीं, इधर उधर बिखर जाती हैं। माला ही छूट गयी। माला क्या रही ? इसी प्रकार द्रव्य अंश अपरिणामित्व भाव का त्याग कर देने पर आत्मा ही छोड़ दिया गया।

वस्तुस्वरूप का चिन्तन—खैर ! इन गहरी चर्चाओं में नहीं जाना है। कर्ता और भोक्ता में भेद है या नहीं ? कुछ भी हो भेद हुआ तो कर्ता अन्य है, भोक्ता अन्य है। अभेद हुआ तो जो कर्ता है वही भोक्ता है। सो चाहे जो हो, वस्तु के स्वरूप का पहिले विचार करिये। यह चेतन पदार्थ वास्तव में किमात्मक हैं और एक वैज्ञानिक के ढंग से आत्मा का विचार करो, उत्पाद व्यय ध्रौव्यता निरखो और उनमें भी अपने आप का सत्त्व एक ध्रौव्यरूप में निरखो कि यह मैं शाश्वत रहने वाला हूँ। समस्तगुण और समस्त पर्यायों में अन्वयरूप हूँ। यह मैं किसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से भेदा नहीं जा सकता हूँ। ऐसा अभेदस्वरूप अपने आपको देखो। जहां भेद में एकांत किया वहां अभेद रूप में देखो तो किसी एकांत का भ्रम उपयोग में न फैलेगा।

अब इस कथन के बाद एक निर्णयात्मक बात कही जा रही है कि व्यवहार दृष्टि से जब देखते हैं तो कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न नजर आते हैं। किया और ने, भोगा और ने, अर्थात् करने वाला और पर्याय था, भोगने वाला और पर्याय था। पर निश्चय से वस्तु का जब चिंतन करते है तो करने वाला और भोगने वाला एक ही ठहरता हैं, अथवा कर्ता और कर्म एक ही ठहरता है। जो किया जिसने वे सब एकरूप हैं। इस द्रव्य के परिणमन को कर्म कहते हैं और परिणमन के आधाररूप द्रव्य को कर्ता कहते हैं। अब इस ही प्रकरण को एक दृष्टांत के द्वारा समझाते हैं।

गाथा 349

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ।।३४९।।

पर के द्वारा अन्य पर की क्रिया किये जाने का अभाव—देखिये झगड़े जितने होते हैं वे इस अभिप्राय के झगड़े होते हैं कि मैं दूसरे को कुछ कर सकता हूँ, या दूसरे ने मुझे कुछ किया है। बस इस आशय से झगड़े चलते हैं और वहां झगड़ा करने वालों को देखो तो एक दूसरे का कुछ भी नहीं कर रहा है। झगड़ा करने वाले अपने आपमें ही मन की, वचन की क्रियाएँ करके रह जाते हैं। परमार्थत: तो मन, वचन, काय भी आत्मा में नहीं। फिर भी सिवाय अपने हाथ फटकारने के दूसरे में तो कोई कुछ कर नहीं सकता। सिवाय अपने मन में कुछ चिंतन बनाने के दूसरे का कोई कुछ कर नहीं सकता। अपने में ही जैसा भाव भर गया उसके अनुसार ही वचन निकले, इसके सिवाय दूसरे का और कुछ तो किया नहीं जा सकता।

शान्ति के लिये वस्तुस्वातन्त्र्य के श्रद्धान की आवश्यकता—भैया ! जो कुछ कोई करता है अपने में करता है, फिर यह रोष क्यों आ रहा है ? इस कारण रोष आ रहा है कि भ्रम बन गया कि इसने मेरा बिगाड़ किया। अरे दूसरे ने मेरा बिगाड़ नहीं किया। दूसरे ने अपने आपमें बुरा विचार बनाकर खुद का बिगाड़ किया, मेरा बिगाड़ नहीं किया। इस ज्ञान पर जब टिक नहीं पाते हैं तो अग्नि के वेग की तरह अन्तर में प्रेरणा और ज्वाला उद्गत होती है। उसे नहीं सह सकते हैं। तो नाना क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इसलिए बड़ी अच्छी तरह से जिंदगी बितानी हो, शान्ति से रहना हो, सुख पाना हो तो यह श्रद्धान करो कि हम जो कुछ करते हैं, सो अपना करते हैं। हम दूसरे का कुछ नहीं करते। दूसरे जो कुछ करते हैं वे अपना करते हैं, मेरा कुछ नहीं करते। उदय ही हमारा खराब होगा तो हमारे बिगाड़ में दूसरे निमित्त होंगे। सो हमें दूसरों पर क्या रोष करना ? अपने पूर्व जन्म की करनी पर रोष करो। अपने वर्तमान अज्ञान पर रोष करो। दूसरों पर रोष करने से कुछ नहीं निकलता बल्कि पापबंध होता है, असाता वेदनीय का बंध होता है जिससे आगामी काल में भी और क्लेश भोगने होंगे।

पर के सम्बंध पर एक दृष्टांत—इस प्रकरण में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता, यह सिद्ध करने के लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे सोने का आभूषण बनाने वाला सुनार जब कि कुछ गहना बना रहा हो, उस समय बतलावो वह सुनार क्या करता है ? क्या सोने को हल्का बड़ा करता

है ? नहीं। वह तो केवल अपनी चेष्टा कर रहा है। हाथ उठाया, नीचे किया, अगल किया, बगल किया, देखते जाओ, वह अपने शरीर की मात्र चेष्टा करता है, वह स्वर्ण में तन्मय नहीं हो जाता। तो जैसे स्वर्णकार केवल अपना काम करता है, सोने का कुछ नहीं करता, इसी प्रकार यह जीव केवल अपना कर्म करता है, दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं करता। तो स्वर्णकार जैसे सोने में तन्मय नहीं हो जाता, इसी प्रकार यह जीव कर्म में तन्मय नहीं हो जाता।

एक की पर से अतन्मयता—कभी दो की लड़ाई हो रही हो तो उन्हें यह देखते जाओ कि वे दोनों अपने आपमें ही अपना परिणमन कर रहें हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरे का कुछ सम्बंध नहीं है। पर देखो तो सही कि पर को अपने लक्ष्य में लेकर और अपने विकल्प बनाकर ये किस प्रकार अपना रोष बढ़ा रहे हैं ? निरखते जाओ। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तन्मय नहीं होता। इसके समर्थन में इस सर्व विशुद्ध अधिकार में सर्व प्रथम पहिली ही पंक्ति में यह बात कह दी गयी थी कि प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय से तन्मय होता है, अर्थात् दूसरे द्रव्य की पर्याय से तन्मय नहीं होता। इसका अर्थ यह निकला कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है। जो है वह अपना ही कर्ता है।

कर्ता की साधनों से अतन्मयता—अब यहां कोई यह शंका करे कि खैर सुनार के सोने को तो नहीं बढ़ा दिया किन्तु उस हथौड़े द्वारा तो बढ़ा दिया ना, जो हथौड़ा सोने की डली पर चोट कर रहा है उसके द्वारा तो सोना बढ़ गया ना, तो उसके उत्तर में कहते हैं।

गाथा 350

जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वदि ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ।।३५०

जैसे स्वर्णकार किसी साधन के द्वारा जो कुछ भी कर रहा है व्यवहारदृष्टि में, वहां देखो तो वह साधन में तन्मय नहीं हो रहा है। वह कलाकार केवल अपने में ही तन्मय है, अपने ही साधन में तन्मय है, अपने ही कर्म में तन्मय है, सर्वत्र भिन्न है। अपने-अपने में अपना काम हो रहा है। यदि कोई ऐसी गोली खा ले कि शरीर न दिखे, जैसे पुराणों में आया कि ऐसा अंजन लगा लिया कि उसका शरीर ही नहीं दिखता था और वह पुरूष हथौड़ा लेकर घर पीटे तो दुनिया को ऐसा दिखेगा कि हथौड़ा कैसा ऊपर से नीचे को गिर रहा है ? जो जैसे वहां दिखता है कि हथौड़ा ही अपना काम कर रहा है वैसी ही बात ज्ञानीपुरूष को सर्वत्र दिखती है कि भाई निमित्त तो यह पुरूष है पर सर्वद्रव्यों की क्रियाएँ केवल उनमें ही अपने आपमें तन्मय होकर होती हैं। तो जैसे शिल्पी साधन के द्वारा कुछ कार्य करते हैं पर उन साधनों में

तन्मय नहीं होते, इसी प्रकार जीव मन, वचन, काय के साधनों द्वारा कार्य करते हैं, पर वे उन करणों में तन्मय नहीं होते हैं, यहां यह बतला रहे है कि प्रत्येक द्रव्य केवल अपने आपका ही कर्ता भोक्ता है, कोई द्रव्य किसी दूसरे का कर्ता और भोक्ता नहीं है। फिर कोई शंका करे कि खैर साधन द्वारा भी कुछ नहीं किया इस स्वर्णकार ने, किन्तु अपने साधन को ग्रहण तो किए हुए है, हाथ में हथौड़ा वह स्वर्णकार ही तो लिए हुए है। उसके उत्तर में कहते हैं--

गाथा 351

जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण सो दु तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हइ ण य तम्मओ होइ।।३५१।।

व्यवहार से गृहीत साधनों में तन्मयता का अभाव—जैसे शिल्पी करणों को ग्रहण करता है, पर उन करणों में तन्मय नहीं होता है इसी प्रकार यह जीव भी करणों को ग्रहण करता है पर किसी करण में साधन में तन्मय नहीं होता है। यहां कर्तापन के प्रसंग में एक द्रव्य केवल अपने ही परिणमन का कर्ता है, यह सिद्ध किया गया है। मोही जीवों के केवल एक ही यह भ्रम है जिसके आधार पर कर्ता और भोक्तापन को भ्रम लग गया है। वह भ्रम है पर्याय बुद्धिपने की अर्थात् जिस समय जो अपना परिणमन होता है उस परिणमन में आत्मद्रव्य को स्वीकार करना यह ही मैं हूँ, जहां अपनी पर्याय में अहंपने का भ्रम हुआ वहां फिर और सम्बंध बनाना, कर्ता भोक्ता के ख्याल आना, इष्ट अनिष्ट को बुद्धि जगना—ये सब आपत्तियां आने लगती हैं इस कारण सर्व प्रकार की आपत्तियों से मुक्त होना है तो मूल भ्रम मिटाने की आवश्यकता है।

आपत्तियों का मूल स्रोत पर्यायबुद्धिरूप भ्रम—मूल भ्रम यह पड़ा है कि जीव अपने स्वभाव को लिए ध्रवस्वरूप है, उस ध्रुव स्वरूप को अंगीकार नहीं करता, जो वर्तना हुई, परिणति हुई उस परिणति को ही आत्मसर्वस्व मानता है। फिर जहां रागद्वेष को माना कि यह मैं हूँ तो रागद्वेष के कारण जो समागम मिला, निकट समागम, शरीर का समागम इनको मान लिया कि यह मैं हूँ, जब शरीर को मान लिया कि यह मैं हूँ तो इस शरीर के जो साधक है उनको मान लिया इष्ट और जो शरीर के विरोधक हैं उनको मान लिया अनिष्ट, तब जगत में इष्ट और अनिष्ट उसे दिखने लगे। जहां इष्ट अनिष्ट का ख्याल चला वहां अनेक विपित्तियां आने लगती हैं और यह जाल ऐसा बढ़ जाता है तथा उछलता जाता है कि फिर यह चिरकाल तक भी हट नहीं पाता है। एक को इष्ट मानने पर अनेक को अनिष्ट मानना पड़ता है और इस तरह इष्ट और अनिष्ट की मान्यता की परम्परा बढ़ती रहती है, और इस इष्ट अनिष्ट के द्वेष में यह जीव अपना

अमूल्य समय बरबाद किए चला जा रहा है।

कल्याण के सुअवसर की उपेक्षा का अनौचित्य—भैया ! जरा सोचो तो सही, जीव की जितनी पर्यायें होती हैं उन सब पर्यायों में अपने आपकी छटनी तो कर लो कि कितनी उत्कृष्ट परिणति हमने पायी ? ये कीड़े, मकोड़े, पेड़, पौधे, पृथ्वी, जल आदि सब केवल क्लेश भोगने के लिए रहते हैं, उनमें विवेक नहीं, उनमें बुद्धि नहीं। ये अपना कल्याण करने का यत्न कर नहीं सकते और ऊपर चढ़कर देखें तो पंचेन्द्रिय जीवों में अनेक पशु हैं, अनेक पक्षी हैं, उन पशु, पक्षियों की क्या हालत है ? उनमें विवेक नहीं जगता, वे अपना आत्महित करने में समर्थ नहीं हैं, केवल एक मनुष्य भव ऐसा है कि जिस भव में चाहें तो हम सदा के लिए संकटों से छूटने की बात बना सकते हैं। पर मोह का ऐसा नशा पड़ा हुआ है कि यह नहीं बनाना चाहता है अपने कल्याण का मार्ग। ये निःसार बाह्य पदार्थ ही जंच रहे हैं इस मोही को अपने हित रूप। वे इन्हीं में लगते हैं, इन्हीं को अपना मानते हैं।

दुर्लभ समागम की उपयोगिता—देखो भैया ! ऐसी उत्कृष्ट स्थिति पायी, तिस पर भी हम अपना क्या उपयोग कर रहे हैं ? इस बात में अपन को कुछ खेद अवश्य होना चाहिए। और कभी तो इन्द्रियों को संयत करके इन कल्पनाओं को बंद करके अपने आप में एक अपने सहजस्वरूप के दर्शन का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक अपना ज्ञानमय स्वरूप अपने आप में विदित न होगा तब तक हम कल्याण का मार्ग न पा सकेंगे। बाहर में कितनी ही हलचल मचा लें, कितनी ही मन, वचन की चेष्टाएँ करलें, पर जब तक अपने आपमें अपना स्वरूप न टिकेगा तब तक हित के पात्र नहीं हो सकते। देव, शास्त्र, गुरु का अवलम्बन इसीलिए है कि हम बारबार उस शुद्ध देव का चिंतन करके अपने आपमें ऐसी भावना जगाएँ कि मैं भी देव हो सकूं। गुरु का संग करके अपने आपमें ऐसी भावना जगाएँ कि जो उपाय ये करते हैं उन्हीं उपायों द्वारा हम भी मोक्ष मार्ग में बढ़ें और शान्ति लाभ करें। इसीलिए ये सब सत्संग हैं और इन सत्संगों से इस देव, शास्त्र, गुरु के समागम से, स्वाध्याय से, तत्त्वचर्चा से यदि हम अपने आपके हित की ओर नहीं झुकते हैं, करते हैं व्यवहार धर्म और लगते हैं विषय-कषायों में तो इससे हमें उद्धार का कोई मार्ग न मिलेगा। सो बाहरी बातों को उपेक्षित करके अपने आपके अंत:स्वरूप को तकना चाहिए।

गाथा 352

जह सिप्पि उ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्म्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ।।३५२।।

कर्ता व कर्मफल की अभिन्नता—जैसे शिल्पकार स्वर्ण बनाने के प्रसंग में वह भोग किसे रहा है ? अपनी चेष्टा के फल को, लेकिन व्यवहारी लोग कहते हैं कि जब वह आभूषण बना चुका तो उन्हें बाजार में बेच दिया—१०—१२ रूपये मुनाफे में मिल गए तो उनसे उसने भोजन किया, कपड़े पहिना, तो लोग कहते हैं कि इसने आभूषण के फल को भोगा। किसी राजा को भेंट किया तो उसे गांव इनाम में मिल गया, सो लोग कहते हैं कि इसने कुण्डल ग्रामादिक फल को भोगा, परन्तु बात यह है ही नहीं।

कर्मफल का कर्मकाल में ही उपभोग—जिस समय इसने चेष्टा की उसी समय उसने अपनी करनी का फल भोगा, बाद में नहीं भोगा। जो चेष्टा करते समय में परिणाम बनाया उस परिणाम में जो कुछ सुख या दु:ख रूप उसका संकल्प है उसको भोगा, गहने को नहीं भोगा। विद्यार्थी लोग साल भर पढ़ते हैं और अंत में परीक्षा देते हैं, और परीक्षा देने के १।। माह बाद रिजल्ट आता है तो लोग कहते हैं रिजल्ट आने पर कि इस विद्यार्थी ने वर्ष भर की पढ़ाई का फल आज पाया। सारे वर्ष सिर मारा और फल पाया एक सेकेण्ड में, क्या ऐसा है ? जिस समय जो कार्य किया उस कार्य का फल उस बालक ने उसी समय पाया क्योंकि कर्मफल भी भोक्ता से अभिन्न है।

भिन्न वस्तु के भोगने का अभाव—शिल्पी गहने का फल नहीं भोग सकता। गहना तो भिन्न वस्तु है, वह तो जो परिणाम बनायेगा, जो यत्न करेगा, उसका फल भोगेगा अथवा व्यवहार में जैसे लोग कहते हैं कि इस स्वर्णकार ने उस गहने के करने का फल भोगा, पर वह उस गहने के व्यवहार में तन्मय नहीं होता। इसी प्रकार यह जीव कर्म का फल भोगता है परन्तु कर्मफल में तन्मय नहीं होता। यहां तक इस प्रसंग में क्या बात कही गयी कि जैसे शिल्पी स्वर्णकार कुण्डल बनाता है तो कुण्डल परद्रव्य है, कुण्डल परद्रव्य के परिणमन को करता है—सुनार, यह व्यवहार भाषा का वचन है और हथौड़ी आदिक परद्रव्यों के परिणमनरूप साधन के द्वारा करता है और हथौड़ी आदिक परद्रव्यों के परिणमनरूप साधनों को ग्रहण करता है, और जब उसे बेचेगा तो इनाम में गांव मिलेगा या फिर धन मिलेगा तो लोग कहते हैं कि ग्रामादिक परद्रव्य के परिणमनरूप कुण्डल करने का फल भोगता है। ये सब व्यवहार वचन है। अज्ञान अवस्था में ऐसी ही व्यवहार दृष्टि परमार्थ बन रही है, परन्तु यथार्थ बात क्या है इसका अब आचार्यदेव निरूपण करने का संकल्प करते हैं।

गाथा 353

एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण।

सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होइ।।३५३।।

निश्चयनय से कर्ता, कर्म व कर्मफल का विवरण—यहां जो कुछ अभी तक वर्णन किया गया है यह व्यवहारनय का वक्तव्य संक्षेप से कहा गया है। अब जरा निश्चयनय का वचन सुनिए कि इस प्रसंग में सुनार ने क्या किया अथवा जीव ने क्या किया और क्या भोगा ? निश्चयनय से अपने परिणमन को तो कर्म कहते हैं और अपने ही परिणमन से उत्पन्न हुआ अपने में जो प्रयोजन मिला, उसे फल कहते हैं। यह बात आगे की गाथाओं से बतायी जायेगी।

पदार्थ के अस्तित्व का प्रयोजन क्या—वर्तमान में कुछ प्रकरण प्राप्त प्रश्न का उत्तर देते चलें। ये दिखने वाले भौतिक पदार्थ किसलिए हैं इसका उत्तर बतावो। पुद्गल किसलिए सत् बना है, यह क्यों है और यह जीव क्यों सत् बना है ? इस जीव का प्रयोजन क्या है ? ये हैं, इसी होने के सम्बन्ध में पूछा जा रहा है। किसलिए ये हैं ? यह चौकी किसलिए है, कोई लोग कहेंगे कि पुस्तक रखने के लिए है, कोई कहेगा कि पूजन के लिए है, कोई कहेगा कि घर में चौकी न हो और त्यागियों को जिमाना है तो उनकी थाली धरने के लिए है। कोई कुछ कहेगा। बहुत सी चीजें ये सब किसलिए है। इसका सही उत्तर तो बताओ।

पदार्थ के अस्तित्व का प्रयोजन—इसका सही उत्तर यह है कि वस्तु परिणमने के लिए है, अपने आपमें परिणमने के लिए है, आपकी पुस्तक धरने के लिए नहीं है। आपके किसी भी प्रयोग के लिए नहीं है। वह है तो परिणमने के लिए है। उनका प्रयोजन केवल परिणमना है और प्रयोजन नहीं है।

वस्तु के परिणमने का प्रयोजन—अच्छा, ये परिणमते किसलिए हैं ? इसका क्या जवाब है ? ये पुद्गल किस प्रयोजन के लिए नया-नया परिणमन करते हैं पुराना परिणमन मिटाते हैं। ये ऐसा किसलिए करते हैं ? इसका उत्तर है कि ये पदार्थ सब जो परिणमते हैं इनके परिणमने का प्रयोजन मात्र इतना है कि ये बने रहें। इनकी सत्ता कायम रहे, इसके लिए इनका परिणमन हो रहा है। जो कोई भी पदार्थ जिस किसी भी रूप परिणमता है, प्रयोजनमात्र सत्ता बनाये रहना है। इससे आगे बाहर में कोई प्रयोजन नहीं है। यह परमार्थदृष्टि की बात है। व्यवहार में तो अपनी अपनी वांछावों के अनुकूल पचासों उत्तर देते हैं।

तो यहां शिल्पकार ने कुण्डल बनाया, हथौड़े से बनाया। हथौड़ी को ग्रहण किया और कुण्डल के फल में भोजन खाया। यह व्यवहारनय का कथन है। अब निश्चय नय की बात सुनिए।

गाथा 354,355

जह सिप्पिओ उ चेट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ ये अणण्णो से।।३५४।।
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो।।३५५।।

जैसे उस स्वर्णकार ने अपनी चेष्टा की और कुछ नहीं किया, कुण्डल पर हथौड़ा नहीं चलाय, अपने में अपने परिणाम के द्वारा भोग परिस्पंद की चेष्टा की। कोई एक दूसरे से लड़े तो उस लड़ाई वाले ने और कुछ नहीं किया, अपने में परिणाम बनाया और अपने में योग का परिस्पंद किया, इससे आगे उस लड़ने वाले ने और कुछ नहीं किया। अपने में परिणाम बनाया और योग का हलन चलन किया। इसके आगे उसकी और कोई करनी नहीं हुई, पर अज्ञानी को इस निश्चय के मर्म का पता नहीं है। बाहर में दृष्टि है तो उसके रोष बढ़ता है, राग बढ़ता है और अंधेरे में बढ़ता चला जाता है, अपनी इस स्वतंत्रता का उन्हें भान नहीं होता। इस स्वर्णकार ने उस समय भी केवल अपने आपमें चेष्टा की यह एक झंझोला दृष्टांत है, कहीं शिल्पी द्रव्य नहीं है, किन्तु जो शिल्पी है उसको द्रव्य के दृष्टांत में रखकर बोल रहे हैं। उस सुनार ने क्या किया, अपने आपमें परिश्रम किया कि वह सोना भी बढ़ा दिया ? परिश्रम ही किया और वह अपने परिश्रम से अभिन्न है, कुण्डल कर्म से अभिन्न नहीं है।

भोजन से भोजन निर्माता का असम्बंध—महिलाएँ रोटी बनाती हैं सभी जानते हैं रोटी बनाना। रोटी बनाने में क्या क्या काम करना पड़ता है ? एक घंटा पहिले से आटा साना, फिर तत्काल भी एक बार गूनकर खूब मुलायम कर लिया। यह सब व्यवहार में दिख रहा है। पहिले जरासा आटा तोड़ लिया, उसे गोल मटोल लोई बनाकर पटले पर उसे बेल लिया। बेलना घुमाकर उसे गोलकर लिया, यह दिख रहा है कि महिला सब कुछ कर रही है। उस गोल मटोल आटे को लम्बा गोल बनाकर तवे पर पटक दिया। पहिली पर्त बड़ी जल्दी उठा लिया ताकि उसमें ज्यादा आंच न लग जाय। दूसरी पर्त जरा ज्यादा पका लिया, उसे एक दो बार गोल मटोल घुमाते रहते हैं। फिर उसे धधकती हुई आग में डाल दिया वह फूलती है, यदि कहीं से हवा निकले तो चीमटे से दबा-दबाकर फुला दिया, पका लिया। कितने काम करती हुई महिला दिख रही है, फिर भी उस महिला ने रोटी में कुछ नहीं किया। उसने तो अपने शरीर में ही परिश्रम किया और ऐसा परिश्रम करती हुई महिला के हाथों के निकट जो वह रोटी उपादान कनकपिंडी पड़ी हुई थी उसमें अपने आपमें क्रिया हुई। महिला ने तो उस समय केवल परिश्रम किया, रोटी में कुछ नहीं किया,

अपने में ही परिश्रम किया। उस परिश्रम के करने में पसीना आ जाय तो घूँघट से ही उसे पोंछ लिया, तब देखो परिश्रम ही परिश्रम तो उसने किया। रोटी से उस महिला का तो कुछ सम्बंध ही नहीं है। वे तो सब भिन्न चीजें हैं।

उपदृष्टान्तपूर्वक दृष्टान्त व दृष्टान्त का विवरण—तो जैसे महिला ने रोटी बनाने के प्रसंग में केवल अपना ही परिश्रम किया, रोटी में कुछ नहीं किया, इसी प्रकार इस शिल्पी ने आभूषण गढ़ते समय केवल अपने में परिश्रम किया, स्वर्ण में कुछ नहीं किया। इसी प्रकार इस जीव ने भी जो कर्म किया सो अपने साव कर्मरूप कर्म का किया। न द्रव्यकर्म को किया और न आश्रयभूत परपदार्थ का कुछ किया। उस समय वह जीव अपने भावकर्मरूप कर्म से अभिन्न है। अन्य पदार्थ जो द्रव्यकर्म हैं या आश्रयभूत पदार्थ हैं उनसे भिन्न है। चूंकि सुनार और स्वर्ण ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं, इस कारण भिन्नता होने से सुनार स्वर्ण में तन्मय नहीं हो जाता। केवल निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही वहां पर कर्ता कर्म भोक्ता भोग्यपने का व्यवहार होता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी पुण्य पापरूप पुद्गल के परिणमन को करता है ऐसा कहना व्यवहार नय से है। पुण्य पाप तो भिन्न वस्तु हैं ? भिन्न वस्तु भिन्न वस्तु का क्या करे ?

भिन्न वस्तु में कर्ता, कर्म व भोग का अभाव—भैया ! विभावों की रचना में निमित्त नैमित्तिक भाव तो है। बेबुनियाद की झूठी बात नहीं है। कुछ तो है बुनियाद, मगर उस बुनियाद से ऐसा आगे बढ़े कि असली मर्म का ज्ञान न रखा और उपादान उपादेय को कर्ता कर्म माना जाने लगा। यह आत्मा मन, वचन, काय के द्वारा पुण्य पाप को करता है, यह व्यवहार वचन है। मन, वचन, काय ये तीनों आत्मा से भिन्न है, पुद्गलद्रव्य के परिणमन रूप हैं। अथवा करणों के द्वारा किया और करणों को ही ग्रहण किया। मन, वचन, काय को लिए लिए फिरते हैं। चलते फिरते बिस्तर बनाए पिंडोला बनाए। यह जीव मन, वचन, काय को ग्रहण करता है और उसके फल में सुख दु:ख आदिक पुद्गल द्रव्य के परिणमन को भोगता है जो कि पुण्य पाप कर्म के फल है ऐसा व्यवहारनय का कथन हैं, परन्तु ये पुण्य पाप कर्म और यह आत्मा ये एक द्रव्य नहीं हैं। ये परस्पर में एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं, त्रिकाल भिन्न हैं। अत्यन्ताभाव है इसलिए ये तन्मय नहीं हो सकते।

स्वर्णकार ने क्या किया और क्या भोगा—जीव तो उसको करे जिसमें यह तन्मय हो, अन्य में तो केवल निमित्त नैमित्तिक भाव वश उनमें कर्ता कर्म भोक्ता भोग का व्यवहार किया जाता है। आत्मा ने अन्य कर्म को किया और आत्मा ने क्या कर्म का फल अन्य भोगा, ऐसा व्यवहार निमित्त-नैमित्तिक भाव वश किया जाता है। वस्तुत: वहां बात यह है कि इस जीव ने अपने योग उपयोग को तो किया और उस योग

उपयोग के फल में जो कुछ आनन्द गुण का परिणमन हुआ उसको इसने भोगा। जैसे कि उस चेष्टा करने वाले शिल्पी ने चेष्टा के अनुकूल अपने परिणमनरूप कर्म बनाया, अपने परिणामरूप कर्म बनाया और उसी समय दु:खस्वरूप अपने परिणमन का चेष्टानुकूल फल भोगा। अरे गहना जब बिकेगा तब बिकेगा, उस समय तो वह दु:ख ही भोग रहा है। तो उसने उस स्वर्ण के किए जाने का क्या फल भोगा ? अपने में ही उसने चेष्टा की और अपने में ही उस श्रम के परिणाम में दु:ख भोग लिया। दु:ख ही तो भोगा।

परिणाम परिणामी में तन्मयता—भैया ! परिणामपरिणामीभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो जीव परिणामी अपने परिणाम में तन्मय होता है। सो वहां उस स्वर्णकार ने अपने को ही किया, अपने को ही भोगा। वह सुनार ही कर्ता है, सुनार ही कर्म है, सुनार ही भोक्ता है, सुनार ही भोग्य है। इस प्रकार यह आत्मा जो कुछ करने की इच्छा करता है इसने अपनी चेष्टा के अनुकूल अपने परिणामोंरूप कर्म को किया और उस काल में दु:ख रूप जो अपने आत्मा का परिणाम है उस फल को भोगा। चूंकि वह आत्मा और आत्मा का वह परिणमन एक द्रव्य है, उसमें ही वह अभिन्न है, उसमें ही उस काल में तन्मय है। सो परिणामपरिणामी भाव चूंकि एक में होते हैं तो इस आत्मा में ही आत्मा का कर्म हुआ और आत्मा में ही आत्मा का भोग हुआ। बाहर आत्मा ने कुछ कर्म नहीं किया और न भोगा। ऐसा निश्चयनय से प्रमाण करते हैं।

अपना कर्तव्य—भैया ! इस कथन को सुनकर अपने आप में कभी तो यह दृष्टि जानी चाहिए कि ओह मैं तो अपने को करता हूँ, अपने को ही भोगता हूँ। इस ज्ञानज्योतिर्मय अपने स्वरूप से बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। जो होता है वह यहां होता है। इसके ही परिणमन के अनुसार होता है, किसी दूसरे पदार्थ से मुझे भरोसा नहीं है, कोई दूसरा पदार्थ मेरे लिए शरण नहीं है। मेरे लिए मैं ही एक उत्तरदायी हूँ। मेरा जिम्मेदार कोई दूसरा मनुष्य नहीं हो सकता। कोई दूसरा मुझसे राग करता हो तो वहां यह पूर्ण निश्चित समझना कि वह मुझसे राग नहीं करता किन्तु वह अपने में अपने कषाय भाव के अनुसार अपने में ही रागपरिणमन करता है। उसके रागपरिणमन के विषयभूत हम हो गए। किस स्वार्थ के कारण राग करता हो वह यह बात उसकी अलग है। मैं भी किसी से राग नहीं करता। केवल अपने कषाय भाव के अनुकूल अपना परिणमन बनाता हूँ और अपना परिणमन करके अपने में ही शांत हो जाता हूँ। बाहर कहीं कुछ नहीं करता हूँ, ऐसी दृष्टि जगे तो आकुलता दूर हो।

आत्मानुभूति का उद्यम—जैसे कोई बीमार आदमी हो, घर में कोई चीज खाने को बनी हो और नुकसान करती हो, मगर बड़ी मीठी बनी हो जिसकी सुगंध ही सूँघ करके मुँह से लार बहने लगे, तो वह सोचता है कि यार अभी तो खा ही लें, पीछे देखा जायेगा। सो यह खाना तो बाद में कुछ अनबन करेगा परन्तु हम आप सब बीमारों के लिए यहां एक बात कही जा रही है कि देखा जायेगा पीछे, घर मिल

जायेगा, सब कुछ मिल जायेगा, एक आध मिनट को तो विकल्प छोड़कर सबका ख्याल भुलाकर जो होगा सो होगा, न मिलेंगे कपड़े पहिनने को न सही, फटे पुराने मिलें वही ठीक हैं। न अच्छा खाना पीना मिले, न सही, साधारण ही खाना पहिनना सही, जो होगा देखा जायेगा, एक आध मिनट को तो निर्विकल्प अवस्था का आनन्द लूट लें। इस आनन्द के फल में उस बीमार जैसा कटुक फल न मिलेगा। उसे अच्छा ही फल मिलेगा। इतना सहनशील अपन को होना चाहिए कि जो स्थिति गुजरे तो गुजरे, कम मिले खाना, कम मिले पहिनना। लोग न पूछें इज्जत न करें, जो भी स्थिति गुजरे तो गुजरे, पर एक अपने सहज स्वभाव के अनुभव का आनन्द तो लूट लो, जो होना होगा सो होगा।

मोहियों का परस्पर का व्यवहार—देखो भैया ! यहां यदि कोई आदर भी करे तो समझ लो कि ज्वारी-ज्वारी का आदर करते हैं। ये सब तो मोह मोह में ही मस्त हैं और कोई बिरला ही ज्ञानी आपका आदर करे तो वह तो इस ढंग से आदर करेगा कि जिस ढंग में आपको अभिमान उत्पन्न करने का अवसर ही न आयेगा। अभिमान तो वहां होता है जहां अभिमान का आदर किया जाता है। यहां बात तो यों है कि--

'उष्ट्राणाम् विवाहेषु गीतं गायंति गर्दभा:।
परस्परं प्रशंसतिं अहो रूपम् अहो ध्वनि:।'

एक बार ऊँट का विवाह हुआ तो उसमें गाने वाले चाहिए थे। ऊँटों ने गाने के लिए गधों को बुला लिया। ऊँट गधों से बोले कि भाई हमारे यहां विवाह हो रहा है, सो तुम दादरे, गीत वगैरह गावो। मनुष्य लोग तो गाते गाते रूक जायेंगे, पर वे गधे सांस खींचते और बाहर निकालते (दोनों में ही गाते हैं)। तो गधों ने ऊँट दूल्हा के प्रति और ऊँट बरातियों के प्रति गाया कि—धन्य है ऊँटों ! तुम लोगों का रूप कितना सुन्दर है ? ऊँटों का रूप सुन्दर तो नहीं होता, पाँव टेढ़े, गर्दन टेढ़ी, पीठ टेढ़ी, सारा शरीर टेढ़ा, ऊँट का कोई भी अंग सीधा नहीं होता। तो खूब गधों ने गाया कि ऐ ऊँटों तुम धन्य हो, कितना सुन्दर तुम्हारा रूप है ? तो ऊँटों ने गाया कि धन्य हो गधों—तुम्हारा राग कितना सुन्दर है ? तो जैसे गधों ने ऊँटों की प्रशंसा कर दी और ऊँटों ने गधों की प्रशंसा कर दी, वैसे ही एक मोही दूसरे मोही की प्रशंसा कर दिया करते हैं। दोनों ही झूठझूठ कह देते हैं।

गालियों में प्रशंसा का भ्रम—भैया ! लोग प्रशंसा क्या करते हैं गालियां देते हैं। पर लोग उसे प्रशंसा समझ लेते हैं। जैसे कोई यह कहता है कि साहब इनके ५ लड़के हैं। एक लड़का कान्ट्रेक्टर है, एक डॉक्टर है, एक मास्टर है, एक मिनिस्टर है, एक कलेक्टर है। सो सभी अच्छे से अच्छे पोस्ट पर हैं। ऐसा सुनकर वह पिता मन में खुश होता है कि हमारी प्रशंसा हो रही है। अरे ये बातें उसने गाली की कही हैं। क्योंकि उसका अर्थ यह निकलता है कि लड़के तो एक से एक ऊँचे ओहदे पर हैं, पर पिता जी कुछ भी

नहीं है, कोरे बुद्धू हैं। सो यहां कोई किसी की प्रशंसा नहीं करता, भ्रम कर करके सभी प्रसन्न होते रहे हैं। दूसरों के लिए रात दिन मरे जा रहे हैं। उन्हीं के लिए सारा श्रम कर रहे हैं।

जपने में अपना सर्व दर्शन—भैया ! शान्ति चाहते हो तो इतना तो ध्यान रखो कि हर एक अपने में अपनी चेष्टा करता है, अन्य कोई मुझमें कुछ नहीं करता। तो जैसे शिल्पी का उस शिल्पी में ही कर्तापन है, और भोग्यपन है, इसी प्रकार इस जीव का अपने में ही कर्तापन है, कर्म है, भोक्तापन है और भोग्यपना है। यह जीव न पर का कर्ता है और न पर का भोक्ता है, ऐसा ज्ञानी पुरूष निश्चय करते हैं। जिस पर अपना अधिकार नहीं है उस पर कुछ अपना विचार बनाना अपने अनर्थ के लिए होता है। सो भैया ! अपने में अपना सब देखो और अपने में अपने हित का उद्यम करो।

परिणामपरिणामी में कर्तृकर्मभाव—जीव का जो परिणाम है वह तो है जीव का कर्म और उस परिणाम का करने वाला जीव है कर्ता। परिणाम ही कर्म होता है और परिणाम ही कर्ता होता है। परिणाम उस परिणामी का ही है इसलिए कर्ता कर्म अभिन्न हुआ करते हैं। आपने भोजन किया तो बताओ कि आपके आत्मा ने क्या किया ? इच्छा किया, ज्ञान किया और प्रदेश परिस्पन्द किया। भोजन को तो आप छू नहीं सकते। पकड़ भी नहीं सकते। भोजन मूर्तिक स्कंध है और यह ज्ञानानन्द स्वभावी अमूर्त पदार्थ है। भोजन का और आपका सम्पर्क ही कैसे हो सकता है ? परन्तु इस पर्याय में सभी का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। इस कारण यह सब हो रहा है, पर प्रत्येक वस्तु के स्वरूप पर दृष्टि देकर सोचो तो प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने अपने में परिणमन करता है। भगवान के सामने खड़े होकर आप बहुत उच्चस्वर से स्तुति गाते हैं, आंसू बहाते हैं, कांप उठते हैं उस समय भी आपने क्या किया ? आप केवल प्रभु के गुणों के अनुराग का परिणाम कर पाये, भोग परिस्पंद कर पाये और इसके अतिरिक्त आपने कुछ नहीं किया। अंग चल उठे, आंसू बह निकले, ये सब निमित्तनैमित्तिक भाववश हो गए। परिणाम परिणामी से अभिन्न होते हैं।

परिणामी में अन्य पदार्थों का अप्रवेश—भैया ! कोई भी कर्म कर्ता से रहित नहीं होता है। इसलिए उस वस्तु के प्रत्येक परिणमन को यही वस्तु करता है। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक सम्बंधों को देखकर यह सब विदित हो रहा है कि कई पदार्थों का साथ है और एक कार्य में सहयोग है, लेकिन परिणमन वाले पदार्थ के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ उस उपादान के बाहर बाहर लोटते हैं कोई किसी में प्रवेश नहीं करता है। औरों की तो बात क्या यह जीव जब इन समस्त पदार्थों को जानता है तो इसके ज्ञान में ये समस्त बाह्य पदार्थ व्यवहार दृष्टि से आ गए ऐसा कहते हैं। लेकिन सब कुछ बाहर बाहर बना हुआ है, ज्ञान में कभी नहीं आता। ज्ञान में ज्ञान की वृत्ति आयी और कोई पदार्थ ज्ञान में नहीं आया। इस जीव ने अनादिकाल से

सम्बंध दृष्टि बनाकर अपने आपका अस्तित्व अपनी कल्पना से खो दिया और बाहर-बाहर के ही गुण गाया करते है। यह आत्मा अनन्त शक्तिमान् है। तो भी अन्य वस्तु किसी अन्य वस्तु में प्रवेश नहीं करती है अत: सब इस आत्मा के बाहर ही बाहर लोट रहे हैं।

वस्तु की स्वभावनियतता का नियम—प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभाव में ही नियत रहता है। अत: खेद की बात है कि यह जीव अपने स्वभाव से विचलित होकर आकुलित होता है, मोह रूप होता है, क्लेश को प्राप्त होता है। अपने इस स्वभाव की नियम की श्रद्धा करे और कभी भ्रमरूप न हो कि मेरा किसी अन्य से बिगाड़ हुआ या किसी अन्य का मैंने सुधार बिगाड़ किया है। ऐसी अविचलित पद्धति से यदि रह जाय तो फिर कोई क्लेश ही नहीं है। कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु का कुछ नहीं होता है। जितने निमित्तनैमित्तिक सम्बंध भी है वे सब इस उपादान के बाहर ही बाहर होते हैं। जैसे किसी को तीव्र अनुराग हुआ तो वह चाहता है कि वह दूसरे से एकमेक बन जाय मगर नहीं बन पाता। वस्तु स्वभाव के नियम के आगे यह अज्ञानी मोही घुटने टेक देता है और खेद करता है कि मैं तो प्रेमी हूँ, पर एकमेक नहीं हो पाता हूँ। कैसे हो ?

अन्य पर किसी अन्य के प्रेम की असंभवता—भैया ! प्रेमी भी कौन किसका है ? इससे बड़ा और आप को क्या उदाहरण मिलेगा, रामचन्द्रजी और सीता का कितना विशुद्ध प्रेम था लेकिन राम ने सीता को जंगल में छुड़वाया और सीता ने अग्निपरीक्षा के बाद राम के प्रति मोहबुद्धि भी नहीं की, अपने आत्महित में उद्यमी रही। तो किसका क्या विश्वास हो ? राम लक्ष्मण जैसा आदर्श प्रेम देखो पर क्या करें श्री राम, क्या करें भाई लक्ष्मण, आखिर अलग होना पड़ा और कुछ अवांछनीय घटना के साथ अलग होना पड़ा। बड़े-बड़े पुरूष भी अपनी इच्छानुसार समागम नहीं पा सके। लेकिन यह मोही जीव अपनी इच्छा में रंच भी अन्तर नहीं डालता। जो चाहूं सो हो। इच्छा हो जाय कि आज पापड़ ही खाना है इसी समय बनें तो स्त्री कहती है कि हाथ पर आम तो नहीं जमते, कल पापड़ मिल जायेंगे। नहीं नहीं, हमें तो अभी खाना है। यदि नहीं खाने को मिले तो कहीं भाग जायेंगे। इसी समय इच्छा के अनुसार कार्य हो जाय। यह पुण्य के उदय में ऐसा हठ करता है और मरण के बाद मिल गयी कीड़े मकोड़े की पर्याय तो जीव तो वही हो, अब यहां हठ कर लो। अब हठ क्या करेगा ? सामर्थ्य के समय में गम खाये, शान्ति पाये तो उसका फल मधुर होता है अन्यथा समर्थहीन होने पर इसकी दुर्दशा ही होती है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बंध में एक का दूसरे में अभाव—एक दूसरे का कुछ नहीं लगता है। एक दूसरे का क्या करता है ? सब बाहर ही बाहर लौट रहे हैं। केवल व्यवहारदृष्टि से ही यह कहा जाता है कि एक पदार्थ ने अमुक दूसरे पदार्थ का कुछ कर दिया ना। इससे बढ़कर और क्या उदाहरण लोगे कि जलते हुए

चूल्हे पर पानी की बटलोई रख दी तो पानी तेज गरम हो जाता है तो आग ने उस पानी को गरम कर दिया ना, इसे कौन मना करेगा ? एक ओर से पूछते जावो, पर वस्तु सिद्धान्त करके कहते हैं कि आग ने तो अपने आपको ही गरम किया और अपने आपमें ही वह जली और परिणमी। उसका सान्निधान पाकर पानी भी तो पुद्गल है, स्पर्श वाला है, वह भी अपनी शीत पर्याय को छोड़कर उष्ण पर्याय में आ गया। आग ने जो कुछ किया अपने में किया, पानी ने जो कुछ किया अपने में किया। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है कि अग्नि का सन्निधान पाकर जल उष्ण हो गया।

किसी की गाली सुनकर जिसका कि नाम लिया जा रहा हो, संकेत किया जा रहा हो वह भड़क उठे तो क्या गाली वाले ने पर में रोष पैदा किया ? अरे गाली वाले ने तो अपने में अपना परिणमन किया, दूसरे में कुछ नहीं किया। वह तो बाहर ही लोट रहा है, पर इस दूसरे ने उसका निमित्त पाकर अपने में कल्पना बनाकर आकुलता उत्पन्न करली। तो निमित्तनैमित्तिक सम्बंध तो है एक का दूसरे के साथ, पर कर्ता कर्म सम्बंध नहीं है। कहीं ऐसा भी नहीं सोचना कि एक पदार्थ दूसरे का कर्ता बन जायेगा, इसलिए निमित्तनैमित्तिक सम्बंध को उड़ा ही दें। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध तो बल्कि यह समर्थन करता है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कर्ता नहीं है। उसे उड़ाने की जरूरत नहीं है।

भैया ! केवल व्यवहारदृष्टि से यह कहा जा रहा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ भी करता है निश्चय से तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ भी नहीं करता है। उपादान स्वयं ही अपने में ऐसी कला रखते हैं कि अनुकूल निमित्त को पाकर खुद अपनी वृत्ति से विभावरूप प्राप्त हो जाते हैं। जैसे आप हम सब ऐसी कला रखते हैं कि बैठने की जमीन का निमित्त पाकर तखत का निमित्त पाकर अपनी परिणति से अपने आप ही इस प्रकार बैठ गये। जमीन ने और तखत ने हम आपमें क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। ये बाहर ही बाहर लोट रहे हैं। इस वस्तु की स्वतंत्रता का जब परिचय नहीं होता है तो दीन अनाथ सा रहकर यह खेद करता है, आकुलित होता है। अब इस ही बात का समर्थन करने के लिए कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कुछ भी सम्बंध नहीं है, इसकी कुछ गाथाएँ कहेंगे।

गाथा 356

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु।।३५६।।

पर का पर के साथ स्वस्वामी सम्बन्ध का अभाव—जैसे खड़िया एक पदार्थ है, जो भींत पर फैला दी जाती है, चूना कह लो। चूना जानते हो किसे कहते हैं ? जिसे लगा देने पर चूवे नहीं। तभी तो चूने की

छत डालते हैं। तो चूना एक पुद्गल स्कंध है और स्वयं सफेदी के गुण से भरा हुआ स्वभाव रखता है। लोग कहते हैं कि इस कलई ने भींत को सफेद कर दिया। हम आपसे पूछते हैं कि भींत ने क्या कलई को सफेद किया ? यह सफेद दिखने वाली जो भींत है इसका और इस सेटिका का क्या सम्बंध है ? इस पर जरा विचार करें। यह सफेदी क्या भींत की है ? सफेदी मीन्स सेटिका, खड़िया, चूना। सफेदी उस खड़िया से चूना से अलग नहीं है, तो क्या यह भींत की है ? यदि यह सफेदी भींत की हो जाय तो या तो भींत रहेगी या सफेदी रहेगी, किन्तु किसी द्रव्य का उच्छेद हो ही नहीं सकता। इस कारण पर का पर के साथ स्वस्वामी सम्बंध नहीं है।

दृष्टांतपूर्वक स्वस्वामीसम्बंध के अभाव की सिद्धि—जैसे स्कूल में किसी बच्चे की किताब गुम जाय और किसी को मिल जाय तो एक बालक कहता है कि यह किताब किसकी है तो दो चार बालक बोल उठते हैं कि यह किताब कागज की है। वह किसी लड़के की नहीं है, लड़के लड़के हैं, किताब-किताब है। लड़के का तो आकार है, रूप है, गंध है। ये सब बातें लड़के की लड़के में हैं। तो जिसकी जो चीज होती है वह उसमें ही तन्मय होती है और वह एक होती है। सम्बंध नाम की चीज कुछ नहीं है। इसीलिए सम्बन्ध नाम का कारक संस्कृत भाषा में नहीं माना। ६ कारक तो माने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण, सम्बंध को नहीं माना। सम्बंध एक काल्पनिक चीज है, मान लिया कि यह चीज मेरी है। जिसे आप मानते हो यह मेरी है, वही पदार्थ जब दूसरे के अधिकार में पहुंच जाय तो अब उसका हो गया। तुम्हारा तो नहीं रहा। यह सफेदी यदि भींत की हो गयी तो फिर भींत ही रह गयी, सफेदी के द्रव्य का विनाश हो गया।

स्वतन्त्र वस्तुओं में स्वस्वामीसम्बन्ध का अनवसर—ये दो अंगुलि हैं आसपास एक छोटी और एक बड़ी। यह छोटी अंगुलि किसकी है, उत्तर दो ? इस बड़ी अंगुलि की है क्या ? अरे इससे तो कोई सम्बंध ही नहीं है। यह छोटी अंगुलि तो इस छोटी अंगुलि की ही है। तो इसी तरह अंगुलि के अलावा जितने भी द्रव्य हैं उन सब द्रव्यों की अंगुलि नहीं है। यह अंगुलि किसकी है ? आप तो कहेंगे कि तुम्हारी है। अरे हमें तुमने देखा है। हम क्या चीज हैं ? हम एक आत्मा है। वह आत्मा परद्रव्य है अंगुलि से। फिर मेरी अंगुलि कैसे हो गयी ? यदि हमें मानते हो ऐसे शरीर के आकार वाला तो उस शरीर आकार का यह एक अंग है। उसमें व्यवहार दृष्टि से भेद डाला है कि यह अंगुलि हमारी है। जैसे किसी वृक्ष में चार बड़ी शाखाएँ हों तो उसे कहते हैं कि ये चार शाखाएँ किसकी हैं ? पेड़ की हैं। तो पेड़ महाराज को तो यहीं धरा रहने दो और चार शाखावों को थोड़ी देर के लिए यहां भेज दो तो क्या यह हो सकेगा ? शाखावों के बिना पेड़ कुछ न रहेगा। इसी प्रकार ये हाथ पैर पीठ पेट बतावो किसके हैं ? तुम्हारे हैं इसका कुछ अर्थ नहीं, यह तो एक भेद की बात है। वस्तुत: किसी पदार्थ का कोई अन्य पदार्थ कुछ नहीं है।

सेटिका व भित्ति में स्वस्वामीसम्बंध का अभाव—यदि यह खड़िया भींत की हो जाय तो खड़िया का उच्छेद हो जायेगा। पर कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य में संक्रान्त नहीं होता इसलिए उच्छेद नहीं हो सकता। खड़िया-खड़िया ही है, भींत-भींत ही है। अरे अभी जल्दी समझ में न आता हो तो उस भींत को जरा खुदेड़ दो, खड़िया नीचे गिर जावेगी और भींत काली कलूट जैसी थी वैसी सामने आ जायेगी। तब मालूम पड़ेगा। ओह खड़िया अलग है और भींत अलग है। तो जब खड़िया अलग नहीं होती है तब भी भींत अलग है। तो यह खड़िया भींत की नहीं हुई।

सेटिका का परमार्थतः स्वामी—फिर भैया ! खड़िया किसकी है ? और विचार करो—हां हां कर लिया विचार। खड़िया किसकी है ? खड़िया खड़िया की है। तो वह दूसरी खड़िया क्या है जिसकी यह खड़िया बन गयी ? ऐसी कोई सफेद खड़िया किसी दूसरी खड़िया की नहीं है। किन्तु एक स्व-स्वामी के अंश का ही व्यवहार है। दूसरी खड़िया कहां है, एक ही तो है। फिर एक में स्व-स्वामी के सम्बंध का व्यवहार क्या करना ? उससे प्रयोजन क्या निकला ? प्रयोजन तो कुछ नहीं। इसलिए यह निश्चय करना कि खड़िया-खड़िया ही है वह किसी की नहीं। तिजोरी-तिजोरी की है और किसी की नहीं क्योंकि तिजोरी किसी दूसरे द्रव्य की तो बन नहीं सकती और तिजोरी की तिजोरी है। ऐसा कहने का कोई मतलब नहीं है। इसी दृष्टि से सर्वपदार्थों को निरखना कि ये समस्त पदार्थ किसके हैं ? किसी के नहीं हैं।

ज्ञाता व ज्ञेय परद्रव्य का अत्यन्त पार्थक्य—इसी तरह जरा आत्मा में निरखो—यह ज्ञायक आत्मा, ज्ञाता आत्मा किसका है सम्बंध तो विचारिये जरा। कहते हैं लोग कि यह ज्ञाता मकान का है दुकान का है। आपने यदि इस चौकी को जान लिया तो क्या कहते हैं कि यह ज्ञाता चौकी का है। ज्ञाता यह आत्मद्रव्य चौकी का कुछ बन सकता है क्या ? चौकी भिन्न द्रव्य है, भिन्न क्षेत्र में है, भिन्न काल में है, भिन्न भाव को लिए हुए है। यह आत्मा की कैसे बन सकती है ? यदि यह ज्ञाता चौकी का हो जाये तो ज्ञाता का उच्छेद हो गया, बस चौकी भर रह गयी। सो तो ऐसा होता नहीं कि ज्ञाता का ही उच्छेद हो जायेगा। दो न्यारी-न्यारी चीजें हैं। ज्ञातापुरूष और ज्ञेय चौकी।

स्वामित्व वर्णन में अपमान—भैया ! यह ज्ञेय चौकी बेचारी अजीव है, सो सारी गाली सुन रही है। सुनती नहीं है, अलंकार में कह रहे हैं। यह चौकी हमारी है ऐसा कहने में हमारा तो सम्मान हुआ , पर चौकी का अपमान हुआ। जैसे किसी ने कह दिया कि यह आदमी तो हमारा है तो बतलावो कि सम्मान किसका हुआ और अपमान किसका हुआ ? सम्मान तो तुम्हारा हुआ और अपमान उस आदमी का हुआ। स्वामी का तो सम्मान होता है और जिसका स्वामी कहा जाय उसका अपमान होता है। यदि यह चौकी भी कुछ हरकत कर सकती होती तो यह भी कह बैठती कि यह आदमी मेरा है। आप कहते हैं यह मकान

मेरा है। कह डालों १०-२० बार पर यह मकान भी यदि कुछ हरकत कर सकता होता तो यह भी कहता कि यह आदमी हमारा है। अरे जितना स्वतंत्र यह मकान है उतना ही स्वतंत्र यह आत्मा है। जीव का तो मकान कह डाला और मकान को जीव नहीं कहा। जब गड़बड़ ही करते हो तो खूब गड़बड़ करो। गड़बड़ की कोई व्यवस्था भी है क्या ?

परद्रव्य का ज्ञातृत्व भी मात्र व्यवहार—ये समस्त पुद्गलादिक द्रव्य आत्मा के व्यवहार से ही ज्ञेय हैं। इन पुद्गलादिक ज्ञेय परद्रव्यों का यह ज्ञायक आत्मा क्या कुछ होता है या नहीं होता है, इस सम्बंध में विचार करते हैं। यदि यह चेतयिता पुद्गलादिक का होता है तो जिसका जो होता है वह उसका ही होता है, पर अभिन्न है। आत्मा का जैसे ज्ञान है तो ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। तो ज्ञान, आत्मा ही है। आत्मा जुदा नहीं, ज्ञान जुदा नहीं देखना, यह तात्त्विक सम्बंध है इसी तरह यह चेतयिता ज्ञाता यदि पुद्गलादिक का है तो ये सब केवल पुद्गलादिक ही रह जायेंगे। दो अलग-अलग नहीं रह सकते। या ज्ञेय रह जाय या ज्ञाता रह जाय। अब कौन एक रह जाय इसका निर्णय करो। ज्ञेय रह गया तो ज्ञाता बिना ज्ञेय क्या और ज्ञाता रह गया तो ज्ञेय बिना ज्ञाता क्या ? इसी प्रकार आत्मा के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। इससे यह निर्णय करना कि पुद्गलादिक का यह ज्ञाता कुछ नहीं है।

मोहियों का झमेला—भैया ! यहां तो मोहियों का झमेला है। ये सब अन्याय कर रहे हैं मगर कौन किससे कहे ? क्या अन्याय हो रहा है अंतरंग में कि इन बाह्य वस्तुओं को अपना मान रहे हैं और इनमें ही आसक्त हो रहे हैं। अब कोई किसी को कैसे बुरा कहे ? चल रहा है ढंग। कोई तीन चार लोग थे। पढ़े लिखे तो न थे, वे पंडित या पंडा कहलाते थे। सो कहा कि तुम्हारे यहां अमुक ग्रह लगा है, जाप करा लो तो मिट जायेगा। कहा कि कर दो। बैठ गये। तो एक बोला कि विसनू विसनू स्वाहा। इतना ही सीखा था। दूसरा बोला कि तुम जपा सो हम जपा स्वाहा। तीसरा बोला कि ऐसा कब तक चलेगा स्वाहा, तो चौथा बोला कि जब तक चले तब तक सही स्वाहा। इसी तरह यहां सब गड़बड़ कर रहे थे। कोई किसी को कान पकड़कर समझाने वाला नहीं है, तो अपनी मनमानी प्रवृत्ति सभी कर रहे हैं। सो ऐसा रंग ढंग कब तक चलेगा ? ऐसी जन्ममरण की परिपाटी कब तक चलावोगे ? भैया ! इस संकट से मुक्ति का उपाय ढूँढ़ लेना चाहिए।

ज्ञेय ज्ञाता का पार्थक्य—प्रकरण यह चल रहा है कि यह ज्ञेय ज्ञाता का है क्या ? यह ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ का कुछ है क्या ? जैसे खम्भे कायह आत्मा कुछ लगता है क्या ? इन तीन बातों में पहिली बात तो कुछ ऐसी लगती होगी कि हां ज्ञेय का ज्ञाता तो है, लेकिन उसका ज्ञेयभूत पदार्थ का अर्थ यह है कि

यह ज्ञाता आत्मा है कुछ क्या ? इसमें कुछ समझ में आया कि हां नहीं होना चाहिए और तब इस ही को सीधा बोल दिया कि इस खम्भे का यह आत्मा कुछ लगता है क्या ? तो जरा झट समझ में आयेगा कि कुछ तो नहीं लगता हैं,यह बात इन तीनों में कही गयी है। यह आत्मा ज्ञायक ज्ञेय का कुछ नहीं है। यदि यह ज्ञेय का ज्ञायक हो जाय तो या ज्ञेय ही रहे या ज्ञायक ही रहे। सो जब ज्ञेय ही रहा तो ज्ञायक का उच्छेद हो जायेगा। ज्ञायक ही रहा तो ज्ञेय बिना ज्ञायक। क्या ? जो वस्तुभूत है उसका कभी उच्छेद नहीं होता और मान लो ज्ञायक का उच्छेद हो गया तो ज्ञेय रहा ही क्या ? फिर सर्व लोप हो जायेगा। इसलिए ज्ञेय का ज्ञायक कुछ नहीं है।

ज्ञायक का स्वामित्व—तो फिर भैया ! यह ज्ञायक किसका ज्ञायक है ? देखो अभी यहां ज्ञायक सुनकर जानने वाला यह अर्थ नहीं करना किन्तु ज्ञायक मायने चैतन्य स्वभावी आत्मद्रव्य। क्या यह ज्ञेय का ज्ञायक है ? नहीं। तब फिर ज्ञायक किसका है ? यह ज्ञायक, ज्ञायक का ज्ञायक है। वह दूसरा ज्ञायक कौन ? जो ज्ञायक है वह दूसरा ज्ञायक कौन ? जिसका यह ज्ञायक है। वह कोई भिन्न चीज नहीं है, एक ही है। तो फिर ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है ? भाई प्रयोजन तो कुछ नहीं है, किन्तु जिसकी बुद्धि स्वस्वामी सम्बंध में लगी हुई है उनको समझाने के लिए इस तरह कहा जा रहा है। अर्थ तो यह कि ज्ञायक ज्ञायक ही है। यह घर किसका है ? तो कोई कह उठेगा कि यह घर हमारा है। तो जो जिसका होता है वह उसमें तन्मय होता है। तो घर रह गया तुम्हारा विनाश हो गया। पर है तो नहीं विनाश, इस कारण तुम्हारा घर नहीं है। तो तुम्हारा कौन है ? तुम्हारे तुम ही हो। वह तुम कौन ? जिसके स्वामी हो और वह कौन तुम जो स्वामी हो। कोई अलग दो तुम तो नहीं हो। फिर ऐसा बताने का प्रयोजन क्या ? प्रयोजन कुछ नहीं। प्रयोजन माना है कि जिसकी यह भ्रमबुद्धि लगी थी कि यह घर मेरा है। उसको समझाने के लिए इतना बोलना पड़ा है कि तुम तो तुम ही हो और घर घर ही हैं।

परमार्थतः ज्ञायक का ही ज्ञातृत्व—अब इस ही बात को जरा वाच्यरूप में भी देखो। यह आत्मा किसी परद्रव्य को जानता भी है क्या ? हां व्यवहार दृष्टि से तो परपदार्थ को जानता है और निश्चयदृष्टि से यह आत्मा अपने आपमें अपने ज्ञायकस्वरूप के परिणमन को जानता है अन्य पदार्थ को नहीं जानता। जैसे आप दर्पण सामने लिए हों और दर्पण में पीछे के खड़े हुए दो चार बालकों की फोटो आ गयी हो तो आप उस दर्पण को देख कर ही सब बताते जा रहे हैं कि अब उस लड़के ने यों टाँग उठायी, उसने यों जीभ मटकायी, उसने यों हाथ हिलाया, लेकिन आप क्या उन लड़कों को देख रहे हैं ? नहीं। आप तो उस दर्पण को ही देख रहे हैं। इसी तरह आपका स्वच्छ यह ज्ञायकस्वरूप जिस प्रकार से जो पदार्थ अवस्थित है उसका ग्रहण इसमें हो रहा है। अर्थात् यह इस प्रकार से अपना जानन परिणमन कर रहा है कि जिस प्रकार बाह्य में पदार्थ अवस्थित है। तो आप सीधा अपने आपको जान रहे हैं किसी परपदार्थ को नहीं जान रहे हैं। पर अपने आपको जानते हुए ही आप सब बातों का बखान करते हैं, अमुक यों है, अमुक यों है।

इसी तरह सबकी बात समझते जावो।

प्रभु की परमार्थतः आत्मज्ञता—सर्वज्ञदेव के सम्बंध में तो यह बात प्रसिद्ध ही है कि भगवान आत्मा व्यवहार से समस्त विश्व को जानता है और निश्चय से केवल अपने आत्मा को जानता है। पर यह बात केवल भगवान के लिए ही नहीं है, जगत् के सभी जीव व्यवहार से परपदार्थों को जानते हैं और निश्चय से अपने आपको जानते हैं। भले ही कोई अज्ञानी जीव अपने आपको विपरीतरूप से समझे, पर्यायरूप जाने, फिर भी यह ज्ञायक परपदार्थों का ग्राहक कैसे कहला सकता है ? सर्वपदार्थ स्वतंत्र हैं, अहो एक इस वस्तु की स्वतंत्रता नजर हो जाने पर एक कल्याण का निर्णय हो जाता है और एक इस स्वतंत्रता का परिचय न होने पर, इन बाह्य पदार्थों के साथ अपना सम्बंध मानने पर यह संसार परिभ्रमण का निर्णय हो जाता है।

महती विपत्तियों का मूल दृष्टि का फेर—भैया ! विपत्ति कितनी बड़ी हैं ? पर वे सब विपत्तियां केवल अपने एक हठ पर ही लग गयीं कि हमने अपने सहज स्वभाव को न अपनाकर परिणमन को अपनाया। केवल भाव बनाया और यह सारा उपद्रव सामने आ गया। किया कुछ नहीं और जन्ममरण के चक्कर लग गए। किया केवल बैठे-बैठे ही एक भाव। जैसे एक कमजोर लड़का किसी बड़े लड़के को बस गाली देता है और कुछ नहीं कर सकता है वह। वह अपनी ही जगह खड़े हुए थोड़ा बक गया, अब उस बड़े लड़के ने उसे पीट दिया। उस पीटने का दुःख जब नहीं सहा गया तो फिर गाली दे दिया। उसने फिर पीट दिया। यह गाली देता है वह पीटता है। गाली के सिवाय और कुछ भी कर नहीं सकता। कमजोर हड्डी निकली हुई है। जोर से तमाचा मार दिया जाय तो गिर पड़े ऐसा वह कमजोर बालक और कुछ भी नहीं कर पाता, वह जरा सा मुँह से बोल देता है कि इतने में वह लातों घूँसों की वर्षा शुरू कर देता है। सो यहां उस लड़के ने कुछ तो विशेष किया दृष्टान्त में, यह आत्मा तो कुछ भी नहीं करता है। यह तो अपने प्रदेशों में रहता हुआ केवल एक ऐसा भाव ही बनाता है कि लो यह मैं हूँ, रागादिक परिणाम या जो पर्याय है यही मैं हूँ। इतना चुपके से भीतर ही भीतर परिणाम बनाया कि ये सभी उपद्रव इसके ऊपर आ गए।

सृष्टि का स्रोत विकल्प—जैसे कोई लोग कहते हैं कि सृष्टि कैसे बनी ? ब्रह्मा एक है, और उसके जब यह परिणाम आया कि 'एकोहं बहुस्याम्' मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ—इतना भाव करते ही यह सारा संसार एकदम बन गया। उन्होंने यह कहा है। पर इसमें अपने तथ्य की बात निकालें। प्रत्येक जीव एक-एक स्वतंत्र, स्वतंत्र पदार्थ है, यह सहज सिद्ध तो सहज शुद्ध है, अपने स्वरूपमात्र है किन्तु 'बहुस्याम्' का इसमें भाव लगा हुआ। जो बहुत-बहुत परिणमन हैं, रागादिक भाव हैं, इन पर्यायों को अपनाने का परिणाम लगा हुआ है। इसके फल से ये सारे नटखट हो रहे हैं। कल्याण चाहते हो, आनन्द चाहते हो, सुख चाहते हो तो अपने आपमें चुपके ही अपनी ओर मुड़कर अपने एकत्व और अकिंचन स्वरूप का अनुभव करलें।

यह आपका पुरूषार्थ आपके काम देगा और इससे बाहर के जितने विकल्प हैं ये विकल्प अपना अहित ही करेंगे।

ज्ञातृत्व का महान् बल—देख लो भैया ! यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा अपने आपमें स्वतंत्र अपने ऐश्वर्य सहित अपने में जगमग स्वरूप सर्व से निराला विराजमान् रहता है। यदि अपने मालिक को तका कि सारे उपद्रव क्लेश समाप्त हो जायेंगे। हे भाई ! यदि बहुत तपस्या करना नहीं बनता है तो मत करो। घोर तप का आज समय नहीं है, न करिये क्योंकि आप एक कोमल आदमी हैं। बड़े आराम में पलते आए हैं। परन्तु एक बात जो केवल विचारों द्वारा ही साध्य है, केवल परिणाम करने से ही बनता है और आपकी कोई चेष्टा नहीं चाहता है ऐसा जो कार्य है क्या कि कषाय रूप शत्रु को अपना शुद्ध ज्ञान परिणाम करके जीत लेना, इतना काम यदि नहीं बन सकता है तब तो क्या कहा जायेगा ? केवल व्यामोह। सीधा सा काम है जो केवल अपने परिणामों द्वारा ही सिद्ध हो जाता है। उसमें भी इतनी हैरानी रखना यह तो कोई विवेक वाली बात नहीं है।

आत्महनन—देखो अपने इस सहजस्वरूप को यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा अनन्त समस्त द्रव्यों से, परपदार्थों से निराला अपनी ऋद्धि वैभव सहित शाश्वत विराजमान् है। इसे न पहिचान कर बाहर में अपना मानकर हमने अपने आपका स्वयं हनन किया। आग को हाथ में लेकर दूसरे को मारने वाला पुरूष क्या करता है कि अपने ही हाथ को जलाता है इसी प्रकार समस्त द्रव्यों को लक्ष्य में लेकर क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम करने वाला यह जीव परद्रव्यों को क्या करता है, केवल अपना घात करता है।

क्रोध से स्वयं का बिगाड़—क्रोध जगता है तो किसी परपदार्थ को ख्याल में लेता है तब जगता है। उस क्रोध के करने में पर का कुछ बिगाड़ किया क्या ? नहीं किया। उसका ही होनहार ऐसा हो, पूर्वकृत कर्म ऐसा ही हो और बिगाड़ हो जाय तो हो जाय, पर उसने नहीं किया।

मनुष्य ऐंठीला जीवन—मान घमंड जो उत्पन्न होते हैं वे भी किसी परद्रव्य को लक्ष्य में लेकर होते हैं। खुद ही खुद के लक्ष्य में रहे तो वहां अभिमान जगना तो दूर रहा, अभिमान का पता ही नहीं पड़ता है। एकरस होकर आनन्दमग्न हो जाता है। मनुष्य में कौनसी कषाय प्रबल है ? क्रोध प्रबल नहीं है, माया प्रबल नहीं है, लोभ प्रबल नहीं है, मान प्रबल होता है। यह सिद्धान्त के अनुसार कह रहे हैं। यहां तो कोई ऐसे भी लोभी मिलेंगे कि धन के पीछे चाहे १० जूते भी कोई मार ले तो भी सह लेते हैं। तब भी उस पुरूष ने १० जूते के लोभ के कारण नहीं, किन्तु अन्तर में

एक मान बसा है, यह मारता है तो मार ले, इतना धन आ जायेगा तो इन लोगों के बीच में छाती फुलाकर चलने का तो मौका लगेगा। यह भीतर में मान पड़ा हुआ है। यद्यपि लोभ की तीव्रता उसके है ही जो मान अपमान सह करके भी तृष्णा नहीं छोड़ता, फिर भी उसके अन्तर में मान पड़ा हुआ है।

चार कषायों की प्रबलता के स्वामी—नरक गति के जीवों में क्रोध कषाय की प्रबलता होती है। तिर्यंच गति के जीव में माया कषाय की प्रबलता होती है। किसी छिपकली को देखा होगा कि किस तरह से माया करके छिपकर कीड़ों को ले लेती है। छिपकली का अर्थ क्या है, छिपकर ली। याने जो अपने शिकार को छिपकर लेने के लिए धीरे-धीरे चलती है, पहिले तो मरी सी बैठी रहती है फिर एकदम ही छपक कर ले लेती है। जो कुत्ता बिल्ली आदि हिंसक जानवर हैं उनकी वृत्ति देखो और इसी प्रकार सब तिर्यंचों में माया कषाय की प्रबलता है और देवों में लोभ कषाय की प्रबलता है। लोभ तो देवों के लिए बताया है, मनुष्यों के लिए शास्त्र में नहीं बताया है।

मनुष्य में मानकषाय की प्रबलता—मनुष्यों में मान कषाय की प्रबलता है। तो मान के वश होकर यह जीव कितना विवाद करता है, कितनी अशांति मचाता है, उसका स्थान होना चाहिए। कहां होना चाहिए मोहियों में। मलिन पुरूषों में उसका अवलम्बन होना चाहिए, ऐसा होड़ मचाते हुए यह जीव मान के वश होकर दु:खी होता है। तो मान करके इस जीव ने क्या किया ? इस ज्ञायकस्वभावी प्रभु का आदर किया।

मायावी ह्रदय में धर्म का अप्रवेश—मायाचार तो बड़ा विकट कषाय है। जैसे जिस गुरिया के छेद टेढ़ा हो उसमें सूत नहीं प्रवेश कर सकता। जो माला बनाने वाले लोग होते हैं वे माला बनाते हुए में कोई ऐसी गुरिया आ जाय कि जिसका छेद टेढ़ा हो तो उसमें सूत क्या प्रवेश कर सकता है ? नहीं। सो उसे अलग हटा देते हैं। इसी तरह जिसका टेढ़ा दिल है, मायाचार से पूर्ण है उसमें धर्म का सूत्र क्या प्रवेश कर सकता है ? नहीं। वह तो निरन्तर दु:खी है।

लोभ का रंग—इसी तरह लोभ कषाय का रंग बड़ा पक्का रंग बताया है। सर्व कषायें पहिले मिट जाती हैं, लोभ कषाय के मिटने का नम्बर सबसे अन्त में आता है। लोभ मिटा तो फिर यह निर्णय हो गया कि अब सब कषायें समाप्त हो गयीं; इन कषायों के वशीभूत होकर यह जीव एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बंध मानता है।

मान की विडम्बना—एक दरबार में जहां विद्वानों का बड़ा आदर होता था। सो एक कवि का बहुत दिनों से सम्मान न हो पाया था। सो सभा में बोला कि महाराज हम ऐसी कविता बनाएंगे कि जैसी आज तक किसी से न बनाई और न बन सकती है और न किसी से कभी बन सकेगी। राजा बोला कि अच्छा दिखावो। सो जेब से एक कोरा कागज निकाला जिसमें कुछ नहीं लिखा था और राजा के हाथ में देते हुए बोला कि महाराज यह है वह कविता किन्तु यह कविता उसको ही

दिखेगी जो एक बाप का, होगा, जो असली बाप का होगा उसको ही महाराज यह कविता दिखेगी। देखिये महाराज ! तो महाराज ने जो कागज उठाया तो उसमें कुछ लिखा तो था नहीं मगर सारी पब्लिक को यह बता दिया कि यह कविता इतनी ऊँची है कि ऐसी कोई लिख ही नहीं सकता। और यह उसको ही दिखेगी जो एक बाप का हो। महाराज सोचते हैं कि यदि यह कह दूं कि इसमें तो कुछ नहीं लिखा तो यह हज़ारों की पब्लिक क्या कहेगी ? लोग यह जान जायेंगे कि यह तो ३ साढ़े तीन बाप के होंगे। सो राजा उस कागज को हाथ में लेकर कहता है कि वाह वाह बड़ी सुन्दर कविता है। राजा ने कहा कि ऐसी सुन्दर कविता कोई नहीं बना सकता है। फिर पास में एक पंडित जी बैठे थे उनसे कहा कि देखो कितनी बढ़िया कविता है? तो उन पंडित जी ने जब देखा तो आश्चर्य करके रह गए कि इस कवि ने तो बड़ी चतुराई खेली, लेकिन वह भी कहता है कि वाह वाह कितनी सुन्दर कविता है ? कहा कि अच्छा तीसरे पंडित जी को बताइये, बाबू साहब को बताइये। इन सेठजी को बताइये, सभी ने प्रशंसा की कि बहुत सुन्दर कविता है। अब केवल इस शान पर कि कोई यह न कह दे कि यह डेढ़ बाप के होंगे, सो सभी झूठझूठ ही बखान कर रहे हैं। सो कषाय के वशीभूत होकर ये जगत के प्राणी जो कुछ भी करते अनुचित उचित अविवेक ये सब इसकी निगाह में थोड़े हैं।

वस्तु की स्वतन्त्रता का दर्शन—देखो भैया ! जैन सिद्धान्त में कही हुई सार बात यदि कुछ है तो जो अन्यत्र कहीं न मिले वह है वस्तु की स्वतंत्रता। व्रत, तप, उपवास आदि को तो सभी कहते हैं, सभी जगह लिखा है मगर वस्तु की स्वरूपमात्रता का ऐसा दर्शन जिसके आधार पर व्रत, तप, चारित्र, श्रद्धान सब कुछ निर्भर है आप को जैनदर्शन में मिलेगा। ऐसे इस महान् दर्शन को प्राप्त करके फिर भी श्रद्धा ऐसी नहीं बना सकते कि मेरा तो मात्र मैं ही हूँ और यह सतत् परिणमन कर रहा है। अपने द्रव्य गुण पर्याय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा यदि न बन सकी तो समझो कि मणि को पाकर पैरों को धोकर उसका बुरा उपयोग करने के बराबर है।

दुर्लभ नरजीवन की बड़ी जिम्मेदारी—त्रसकाल कितना है ? कुछ अधिक दो हजार सागर। इस त्रसकाल के बीच यह जीव त्रस पर्याय पाता रहता है। इसमें मुक्त हो जाय तो भला है और न मुक्त हो जाय तो अंत में उसे स्थावरों में जन्म लेना पड़ता है और उन त्रस पर्यायों में मनुष्य की पर्याय यों ४८ रहती हैं और यों ढंग में २४ मिलती है। और वहां कुछ सदुपयोग न कर सके तो इससे अच्छा यह था कि मनुष्य न बनते, तो आपकी सीट और नम्बर सुरक्षित तो रहता कि फिर मनुष्य हो सकते थे। तो मनुष्य होना बड़ी जिम्मेदारी वाली बात है। जैसे सभी कहते हैं कि कुटुम्ब में बड़ा भाई होना बड़ी जिम्मेदारी की बात है। उससे भी अधिक जिम्मेदारी इस मनुष्यपने की है। यदि इस मनुष्य पर्याय को पाकर न चेते तो भला बतलावो अन्यत्र चेतने का अवसर क्या आयेगा और चेतना यही है कि इस जीव का कोई दूसरा जीव कुछ नहीं लगता। ऐसा परखकर सभी

वस्तुओं की स्वतंत्रता देखो इसी से निर्मलता बनती है और इस निर्मलता से ही धर्म है।

जिस प्रकार ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थ का कुछ नहीं है, इसी प्रकार दर्शक आत्मा पदार्थ का कुछ नहीं है, अर्थात् दृश्य का दर्शक नहीं है, दृश्य दृश्य ही है और दर्शक-दर्शक ही है, इस बात का वर्णन करते हैं।

गाथा 357

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडियाय सा होइ।
तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु।।३५७।।

दर्शक व दृश्य परद्रव्य की भिन्नता में एक दृष्टांत—जैसे भींतादिक परद्रव्य जो श्वेत करने योग्य हो रहे हैं व्यवहार दृष्टि में उस भींतादिक परद्रव्यों को सफेद करने वाली यह कलई क्या उसकी कुछ लगती है ? इन दोनों के सम्बंध पर जरा विचार करो। यदि यह सफेदी भींतादिक परद्रव्य की होती है तो जो जिसका होता है वह वह ही होता है। जिसे आत्मा का ज्ञान है तो ज्ञान आत्मा ही है। आत्मा से भिन्न ज्ञान और कुछ नहीं है। ऐसा तात्विक सम्बंध है। जब सेटिका भींत हो गयी तो भींत में रह गयी, सेटिका खत्म हो गयी। जैसे व्यवहार में कहते हैं ना कि यह आदमी हमारा है, तो इसमें ही सोच लो कि आदमी गौण हो जाता है और स्वामी मुख्य हो जाता है। प्रधानता स्वामी की होती है। तो वह सेटिका यदि भींत की हो गयी तो भींत मुख्य हो गयी और सेटिका का उच्छेद हो गया, परन्तु किसी भी द्रव्य का किसी अन्य में संक्रमण नहीं होता है। इस कारण न तो सेटिका का उच्छेद होता है और न सेटिका भींतादिक परद्रव्यों की है।

सेटिका का स्वामित्व—यदि भींत की यह सफेदी नहीं है तो फिर यह किसकी है सफेदी ? तो उत्तर मिलता है कि सफेदी की ही सफेदी है। वह सफेदी अलग क्या चीज है जिसकी सफेदी बन जाय ? तो कहते हैं कि अलग कुछ नहीं है। सफेदी सफेदी है। तो फिर स्वस्वामी सम्बंध बनाने का क्या मतलब है ? कहते हैं कि कुछ भी मतलब नहीं है, किन्तु भींत-भींत ही है, सफेदी सफेदी ही है। एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कुछ नहीं लगता है। जैसे आपने कोई कमीज पहिन ली तो क्या वह आपकी कमीज हो गयी ? कमीज का अर्थ जानते हो ? क मायने शरीर और मीज मायने अच्छी तरह से मीच दे। अभी शरीर में कोई कमीज पहिन लो तो हाथ हिलाने पसारने आदि में कुछ न कुछ दिक्कत पड़ेगी और यदि कमीज नहीं पहिने हैं तो शरीर को जैसा चाहे हिलावो, हाथ जैसे चाहे फटकारो, हिला दो कुछ भी दिक्कत नहीं

पड़ती है। तो क्या वह कमीज आपकी है ? आपकी नहीं है। वह तो आप से बाहर पड़ी हुई लोट रही है। वह तो कमीज की कमीज है। आपका यहां कुछ नहीं है।

व्यामुग्ध बुद्धि—किन्तु, भैया अज्ञानी के ऐसा मोह पड़ा हुआ है कि जैसे किसी बाबू साहब ने यदि दर्ज़ी से कोट बनवाया और देखा कि गले की जगह पर जरा सी सिकुड़न पड़ गयी है तो बाबू जी कहते हैं दर्ज़ी से कि तुमने तो हमारा नाश कर दिया। अरे बाबूजी नाश कहां कर दिया ? कोट में जरा सी सिकुड़न पड़ गयी है, पर कोट में ऐसी आत्म बुद्धि रखी है कि कोट बिगड़ा तो अपन ही खत्म हो गए। कोई गुजर जाय तो हाय हम बरबाद हो गये। अरे कहां बरबाद हो गए, तुम तो पूरे के पूरे हो। रही पालन पोषण की बात। तुम्हारा उदय है सो उदय ही पालन पोषण करेगा। उदय से ही पालन पोषण होता था। तुम्हारी तो रंच बरबादी नहीं हुई। मगर मोह बुद्धि है तो मानते हैं कि हाय मैं ही बरबाद हो गया।

अपनी संभाल—देखो भैया ! जिसको जो मिला है इस सबका विछोह होगा, न घर सदा चिपका रहेगा, न आप रहेंगे, न आपको जो परिजन मिले है ये सदा रहेंगे। वियोग तो होगा ही, पर जितने काल जीवित हैं उतने काल तो ज्ञान बनाए रहो, मोह न करो, ममता न करो। यदि ऐसा कर सके तो विछोह के समय में पागल न बनना पड़ेगा और समागम के समय, मोह ममत्व रखा तो इनके विछोह के समय में पागलपन आ जायेगा। इसलिए ज्ञानी पुरूष का कर्तव्य है कि पुण्यपाप के फल में हर्ष विषाद न करें, किन्तु उसके मात्र ज्ञाता दृष्टा बनें। होता है ऐसा आत्मबल कि कितने भी कुछ संकट आएँ तिस पर भी यह जीव ज्ञात दृष्टा रह सकता है।

खुद का खुद में विस्तार—जैसे यह रंग चौकी का नहीं है, चौखट का नहीं है, चौखट चौखट ही है और रंग रंग ही है। इसी प्रकार यह दर्शक दृश्य परपदार्थ का नहीं है। दर्शक दर्शक ही है और दृश्य-दृश्य ही है। एक फैलने की पद्धति का अन्तर भर है किन्तु परपदार्थ का बन कुछ नहीं गया। एक चूना का ढेलो जो ढेला के रूप में रखा हुआ था उस ढेले को पानी में डाल दिया सो वह ढेला जो एक पिण्ड के रूप में था सो कण-कण फैल फैलकर इतना विस्तृत हो गया, अब एक भींत के आधार में उसे फैला दें तो वही एक ढेला जो हाथ में लिया जा सकता था वही ढेला भींत पर इस तरह फैल गया तो वह सफेदी कहीं भींत की नहीं बन गयी। सफेदी अपने में ही सफेदी है और सफेदी अपने को ही सफेद कर रही है, भींत को सफेद नहीं कर रही है।

रंग की रंग को ही रंगने में शक्यता—एक यह रंग काठ में लगा है तो क्या इस रंग ने काठ को नीला कर दिया ? नहीं। नीले रंगने अपने को नीला बनाया। पहिले डिब्बे में पिण्डरूप में रखा था अब वह

इस रूप में फैल गया तो इतने विस्तार में यह नीला हो गया, पर काठ तो ज्यों का त्यों है। नीला रंग नीले रंग का है, काठ का नहीं है।

आत्मा के पर का अदर्शकत्व—इसी प्रकार यह दर्शक आत्मा इस दृश्य पदार्थ का क्या कुछ लगता है ? क्या यह दृश्य का देखने वाला यह कुछ है ? नहीं है। यदि यह दर्शक दृश्य का कुछ बन जाय तो दृश्य ही रहेगा, दर्शक का उच्छेद हो जायगा, परवस्तु का उच्छेद नहीं हुआ करता। क्योंकि कोई वस्तु किसी वस्तुरूप नहीं बनती है। तब यही सिद्ध हुआ कि यह दर्शक दृश्य का कुछ नहीं है।

दर्शक की स्वतंत्रता—फिर किसका है यह दर्शक ? दर्शक का ही दर्शक है। कहते हैं कि दूसरा दर्शक कौन जिसका कि यह दर्शक बन जाय ? कहते हैं कि कोई दूसरा दर्शक नहीं। तो फिर स्वस्वामी सम्बंध क्यों बना रहे जबरदस्ती, इससे कुछ प्रयोजन निकलता है क्या ? प्रयोजन कुछ नहीं निकलता है। तो फिर यह सिद्ध हुआ कि दर्शक दर्शक ही है। यह दूसरे का दर्शक नहीं है। फिर इतनी लम्बी चौड़ी बातें बतायीं किस लिए ? जो पुरूष एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ का स्वामी मानता था उसको समझाने के लिए यह अभिन्न स्वस्वामी सम्बंध बताया गया है। अभिन्न स्वस्वामी सम्बंध बताकर उसे समझाया गया है कि किसी पदार्थ का कोई पदार्थ कुछ नहीं लगता है। यह अपनी बात चल रही है, अपनी बात सुनने में कठिन लगे और दाल रोटी की बात कहने सुनने में सरल लगे यही तो व्यामोह है।

आत्मलब्धि का यत्न—भैया ! खुद की बात क्यों कठिन लग रही है और पर की बात जिसको यहां मना किया जा रहा है कि हम रागी द्वेषी भी न हों, पर के देखने वाले भी न हों, जिससे कुछ सम्बंध नहीं उसकी बात सुगम लग रही है, तथा जो स्वयं है खुद है उसकी समझ कठिन लग रही है। इसका कारण यह है कि ज्ञान पुरूषार्थ नहीं किया जाता है। देखो बड़ी बात में तपस्या करना पड़ता है और कष्ट झेलना पड़ता है, मन लगाना पड़ता है और आदर रखना होता है, तब जाकर वह चीज प्राप्त होती है। कहीं यों ही आलस्य में और खेलकूद में पुण्य के ठाट बाट में मस्त होकर चाहें कि यह चीज मिल जाय तो मिलना कठिन है। सो कुछ भी जगत में मिले उसके मिलने से आत्मा का पूरा नहीं पड़ेगा। आत्मा का पूरा पड़ेगा तो एक आत्मज्ञान से पड़ेगा। तो प्रत्येक प्रयत्न करके एक इस आत्मा की ओर कुछ दृष्टिपात करें और कुछ लगें, इसके लिए चाहे सर्वस्व समर्पण करना पड़े तो सबको त्याग करके उपेक्षा करके भी यदि यह एक ज्ञानदृष्टि की बात प्राप्त होती है तो समझ लो कि सस्ते में ही निपट गए। कुछ हमारा खोया नहीं।

पृथक् वस्तु के भिन्न समझने में संकोच क्या–भैया ! जो हमारी चीज नहीं है उसको त्यागने में कठिनता तो न मालूम करें। जैसे दूसरे का धन आपके पास है और यों ही देने को पड़ा है तो दूसरे को

देने में आप हिचकिचाते नहीं। तो जो मेरी चीज नहीं है, तन, मन, धन, वचन ये चारों मेरे नहीं है, सो इनको किसी भी प्रकार उदारता से उपयोग करने में ज्ञानी होकर जानो कि मैंने खोया कुछ नहीं है। जो मेरा गुण है, स्वभाव है, उसकी दृष्टि चूक जाय तो मैंने सब खोया। जो मेरा है वही खोया तो उसको ही तो खोया कहेंगे। जो मेरा नहीं है उसके खो जाने पर यह खोया हुआ नहीं कहा जायेगा। जो अपना है वही खो जाय तो उसे ही खोया हुआ कहना चाहिए।

दर्शक का परदृश्य से असम्बंध—यहां यह बताया कि आत्मा पर का दर्शक भी नहीं है, ज्ञायक भी नहीं है। इस रहस्य को द्रव्य-द्रव्य के रूप में बताया गया है। दर्शक से देखने वाला इतना अभी अर्थ नहीं करना, दृष्टा किन्तु दिखने वाला यह द्रव्य इस द्रव्य का कुछ नहीं लगता। अब इससे भी आगे बढ़कर यह सोचो कि क्या यह आत्मा किसी पर को देखता भी है ? दर्शन एक आत्मा का गुण है और वे गुण आत्मप्रदेश में ही रहते हैं। किसी भी द्रव्य का गुण उसके प्रदेश से बाहर त्रिकाल होता ही नहीं है। तब दर्शन गुण जो कुछ भी परिणमेगा वह आत्मप्रदेश में ही तो परिणमेगा कि पर में परिणमेगा और जहां परिणमता है वही उसका कर्म है, वही उसका प्रयोग है। तब दर्शन ने अपने ही आत्मा में अपने ही आत्मा को देखा, किसी परवस्तु को नहीं देखा। किन्तु आत्मा में ऐसी स्वच्छता का स्वभाव है कि वह देखना ही इसी भांति कहलाता है कि जो कुछ आत्मा जाने उस जानते हुए आत्मा को सामान्य रूप से भांप लें। प्रतिभास लें, इसी का नाम दर्शन है।

दर्शक का परदृश्य से विषयभाव के रूप में भी असम्बंध—भैया ! ज्ञान का तो विषय की अपेक्षा से परपदार्थ का सम्बंध है पर दर्शन का तो विषय के रूप से भी परपदार्थ के साथ सम्बंध नहीं है। ज्ञान का विषय परपदार्थ है, और दर्शन का विषय आत्मपदार्थ है फिर यह बात कैसे सिद्ध होगी कि यह आत्मा पर को देखने वाला है। यह बात यों सिद्ध होती है कि इस आत्मा ने पर को जाना और पर को जानने वाले इस आत्मा को दर्शन को देख लिया, इसी का अर्थ है कि हमने वह सब देख लिया जो-जो कुछ आत्मा ने जाना। और यों यह दर्शन पर का दर्शक बन जाता है।

दर्शक के सर्वदृष्टत्व के कारण पर एक दृष्टांत—जैसे पहलवानों की कुश्ती होती है ना तो जो पहलवान बहुत से पहलवानों को जीतकर दुनिया में अपना प्रथम नम्बर रख रहा है तो दूसरा कोई पहलवान यदि उसे कुश्ती में जीत ले तो उसका नाम पड़ जायेगा विश्वविजयी पहलवान। उससे कोई कहे कि तूने तो एक को ही कुश्ती में जीता और विश्वविजयी कैसे कहलाया ? तो भाई जिसने सैकड़ों हज़ारों पहलवानों को कुश्ती में पछाड़ दिया तो वह सबका विजयी कहलाने लगा और उसको जिसने कुश्ती में पछाड़ दिया वह विश्वविजेयी कहलाने लगा। उसको जगह-जगह के अखाड़ों में जाकर लटोरों घसोरों से

कुश्ती नहीं लड़ना है, जो आज विश्वविजयी घोषित है उसको पछाड़ दिया तो वह विश्वविजयी बन गया।

दर्शक के विश्वदर्शकत्व का कारण—इस दर्शन का यह काम नहीं है कि एक-एक पदार्थ को ढूँढ़े उनको देखें, किन्तु समस्त पदार्थ आत्मा ने जान लिए, अब ऐसे विश्वज्ञ आत्मा को जो अपनी झलक में ले ले तो वह दर्शन समस्त विश्व का दर्शक कहलाने लगा। यह दर्शक आत्मा दृश्य पदार्थों का कुछ नहीं है। यह बात चल रही है कर्ता कर्म और स्वस्वामी सम्बंध का भ्रम मिटाने के लिए। देखो प्रत्येक प्रसंग में ये बाह्य समस्त पदार्थ इस उपादान के बाहर ही बाहर लोट रहे हैं।

पर में पर के अप्रवेश का एक दृष्टांत—एक आग से तेज गर्म किए हुए गोले को पानी से भरी कुंडी में डाल दिया जाय तो देखने में ऐसा लगता है कि इस गोले में पानी समा गया, लेकिन फिर भी वह समस्त पानी गोले के बाहर ही बाहर लोट रहा है। इस स्वभावदृष्टि को परखने वाला जानता है। गरम लोहे का निमित्त पाकर बहुत सा पानी सूख भी गया, पर यह नहीं हो सकता कि लोहे में पानी प्रवेश कर जाय। वह बाहर ही बाहर लोटता रहता है, चाहे खत्म भी हो जाय, एक दृष्टांत की बात है।

आत्मा में पर के अप्रवेश को ज्ञान की विशुद्धता—इसी तरह समग्र वस्तुवें हम आपसे बाहर पड़ी हुई हैं, हममें कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, दूसरे में हम नहीं हैं लेकिन मोह की यह एक विचित्र करामात है कि यह अपने साफ सुगम स्वतंत्र चितचमत्कार मात्र आत्मस्वरूप को भूल गया है और परदृष्टि इसने बना डाली है, पर की ओर यह आकर्षण किए हुए है। यह आत्मा न पर का ज्ञायक है और न पर का दर्शक है। यह तो यह ही है, जैसा है तैसा ही है। इसको किसी अन्य पदार्थ का रंच भी सम्बंध नहीं है। इस कथन के सुनने से अपने आपमें यह प्रभाव होना चाहिए कि हम भी यह बुद्धि बनाएं, यथार्थ बात मानें कि मेरा मैं ही हूँ। मेरा मुझसे बाहर कोई कुछ शरण नहीं है। कोई करने वाला भोगने वाला नहीं है। यह ज्ञानामृत पिये रहेंगे तो ममत्व ही क्या होगा ? और इस ज्ञानामृत को न अंगीकार करेंगे तो व्याकुल होकर, दु:खी होकर संसार में रुलना ही पड़ेगा। जैसे कि अब तक रुलते चले आए हैं।

पर के अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व व अस्वामित्व आदि का समर्थन—इस प्रकार यहां तक ज्ञान और दर्शन गुण की वृत्ति की दृष्टि से भी इस आत्मा का पर के साथ सम्बंध नहीं है, इस बात का वर्णन किया गया है। और इस वर्णन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि द्रव्य द्रव्य का तो कुछ है नहीं, केवल जानन और देखन का व्यवहार से सम्बंध है और कोई सम्बंध आत्मा और पर के साथ नहीं है। यह अपने को ही जानता और अपने को ही देखता है। जब दूसरे को जानता देखता तक नहीं है तो अमुक अमुक से राग करता है, अमुक-अमुक से बड़ा प्रेम करता है, बड़ा मोह है, इसका मेरा बड़ा बैर है, इन बातों की तो चर्चा

ही क्या है ? सब अपने आप में अपने कषाय और ज्ञान के अनुसार अपना परिणमन बनाए हुए हैं। कोई किसी का न कर्ता है, न हर्ता है, न देने वाला है, न लेने वाला है, न अधिकारी है, न स्वामी है—ऐसा जानकर अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करके मुक्ति का मार्ग प्राप्त करना यही एक अपना काम है।

जैसे यह ज्ञायक ज्ञेय का कुछ नहीं है और यह दर्शक दृश्य का कुछ नहीं है इसी प्रकार यह संयत परद्रव्य का संयत नहीं है अर्थात् यह त्यागी पर का त्यागी नहीं है इस सम्बंध में कुन्दकुन्दाचार्यदेव वर्णन करते हैं।

गाथा 358

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु।।३५८।।

पर के अपोहकत्व की व्यवहार दृष्टि—संयत का अर्थ है अपने आपमें भली प्रकार से नियत हो जाना। इसका अर्थ यह निकलता है कि यह समस्त परद्रव्यों का परिहारी है। अपने आपमें नियत होना और पर का त्याग होना, इन दोनों का एक ही अर्थ है। तब इस त्यागी का और परद्रव्य का वास्तव में क्या कोई सम्बंध है ? इस बात पर विचार करना है। यह आत्मा ज्ञान और दर्शन गुणकर भरपूर और पर से अलग रहने के स्वभाव वाला है। यह पर का अपोहक है। इस अपोह्य अपोहक के सम्बंध में विचार किया जा रहा है। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि यह परद्रव्य का अपोहक है, पुद्गलादिक परद्रव्य अपोह्य है और यह आत्मा अपोहक है और व्यवहार में भी लोग कहते हैं कि हम आलू के त्यागी हैं, गोभी के त्यागी हैं और कोई-कोई यह भी कहते हैं कि हम त्याग के त्यागी हैं, पर वह तो मखौल है। कुछ छोड़ते न बने तो अपनी बड़ाई करने के लिए कह देते हैं कि हम त्याग के त्यागी हैं।

अपोहक में अपोह्य का अत्यन्ताभाव—भैया ! हमारी थाली में जो चीज न आई हो उसको हम त्याग रखते हैं। तो जैसे थाली में चीज नहीं आई उसके त्यागी हैं। इसी प्रकार जो चीज सामने हो उसके भी हम सदा त्यागस्वभाव वाले हैं। इसकी खबर मोही जीव को नहीं है। यह जीव विकल्पों को तो ग्रहण करता है और विकल्पों का त्याग करता है, यह बात तो है इसी की युक्तिसंगत, पर अन्य पदार्थों को न यह जीव ग्रहण करता है और न यह जीव त्याग कर सकता है और फिर विकल्पों का त्याग करने वाला यह आत्मा क्या परपदार्थों का कुछ लगता है ? एक तो कहते हैं त्यागी और दूसरे जोड़ते हैं सम्बंध। जैसे

यह किसके फूफा हैं ? अमुक के हैं। यह किसके हैं ? अमुक के हैं, ऐसे ही हम त्यागी अमुक पदार्थ के हैं यों रिश्ता जोड़ रखा है।

गृहीत के ही अपोह्यपने की संभवता—त्याग वस्तुत: परद्रव्य का नहीं किया जाता किन्तु अपने आपके विकल्पों का किया जाता है। व्यवहार से जो यह कहा जा रहा है कि यह अपोहक परद्रव्य का है तो वहां सम्बंध विचार करिये कि यह संयमी परद्रव्य का संयमी है क्या ? यदि यह आत्मा पुद्गलादिक का कुछ हो जाय, त्यागी हो जाय, संयमी हो जाय तो जिसका जो होता है उसका वही होता है। वहां दो चीजें नहीं रह सकती हैं। जैसे आत्मा का ज्ञान होता है तो ज्ञान और आत्मा कोई जुदी जुदी चीजें नहीं हैं, आत्मा ही ज्ञान है। इसी तरह यदि यह अपोहक परद्रव्य का अपोहक हो जाय तो परद्रव्य और ये दोनों दो सत्त्व वाले पदार्थ न रहेंगे। तो रहेगा कौन ? स्वामी रहेगा मेरी अंदाज में।

संकरता में सर्वलोप का प्रसंग—यद्यपि वहां भी विवाद है कि जब दो मिलकर एक बने तो कौन एक रहे ? लेकिन व्यवहारपने की लाज रखते हुए बात खोजी जाय तो यह कहा जायेगा कि स्वामी रह जायेगा। क्योंकि स्वस्वामी सम्बंध बताने में मुख्यता स्वामी की होती है। तो जब परद्रव्य का अपोहक आत्मा उच्छेद को प्राप्त हो गया, जब अपोहक नहीं रहा तो अपोह्य क्या है ? जब त्यागी नहीं रहा तो त्याज्य क्या रहा, किन्तु ऐसा नहीं होता है। कोई द्रव्य किसी द्रव्यरूप हो जाय या किसी द्रव्य का उच्छेद हो जाय जब ऐसा नहीं है।

अपोहक का स्वामित्व—अब विचार करें कि यह अपोहक किसका है ? यह त्यागी किसका है ? यह अपोहक अपोहक का है। यह संयमी संयमी का है। वह दूसरा संयमी क्या जिसका कि यह संयमी बने। तो दूसरा कुछ नहीं है। तो इसका अर्थ ही क्या निकला कि संयमी का संयमी है, रोटी की रोटी है, तुम्हारी नहीं है। तो वह दूसरी रोटी क्या जिसकी रोटी बने ? कुछ भी नहीं है। तो फिर इसका कुछ मतलब ही नहीं निकला। तो ऐसी बकवाद क्यों की जा रही है ? अरे बकवाद नहीं की जा रही है किन्तु जो जीव पर को स्वामी मानता था उसकी पर में स्वस्वामी बुद्धि मिटाने के लिए अभेदरूप से खुद को खुद का स्वामी बताना पड़ा। स्पष्ट अर्थ तो यह है कि यह अपोहक अपोहक ही है। अपोहक माने त्यागी। त्याग करने का अर्थ है अपने आपमें संयत रहना। तो यह आत्मा किसी परद्रव्य का कुछ नहीं है।

वस्तुस्वातन्त्र्य की घोषणा—भैया ! यहां ऐसी स्वतंत्रता की घोषणा की जा रही है कि जब कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में न अपने द्रव्यत्व का सम्बंध रखता है, न गुण का सम्बंध रखता है, न परिणमन का सम्बंध रखता है। फिर उसमें स्वस्वामी सम्बंध बताना और कर्ता कर्म का भ्रम करना कहां तक युक्त है ?

ज्ञानस्थैर्यके लिये त्याग का सहयोग—त्याग भी ज्ञान दर्शन की स्थिरता का नाम है। जो जीव ज्ञान दर्शनगुण में स्थिर होना चाहता है उसे यह आवश्यक है कि वह विकल्पों को छोड़े। विकल्पों को छोड़े बिना ज्ञायक शुद्ध स्वभाव में स्थिरता नहीं हो सकती। विकल्प होते हैं परपदार्थ विषयक विकल्पों के स्वरूप का निर्माण परपदार्थों को विषय किए बिना नहीं होता है। जैसे कहा जाय कि किसी भी परपदार्थ का ख्याल न

रखो और विकल्प किए जावो तो यह बात सम्भव नहीं है। विकल्प पर का विषय लिए बिना होता नहीं है। तब बुद्धिपूर्वक उपाय क्या है ? तो उपाय दो ही हैं। एक तो ज्ञानस्वभाव का मनन करना और बाह्य में जिन पदार्थों का आश्रय करके विकल्प उत्पन्न हुआ करता है उन पदार्थों का त्याग करना, उनको निकट से हटाना, यही बाह्य में उपाय है। परन्तु द्रव्यानुयोग की प्रगति और चरणानुयोग की प्रगति का सम्बंध है।

त्याग का सर्वत्र सुफल—जैसे किन्हीं भी दो पुरूषों में विवाद हो गया कि परलोक है या नहीं। तो बहुत विवाद होने के बाद अंत में यह निष्कर्ष निकला कि देखो सदाचार से परसेवा करते हुए, अपना परिणाम निर्मल रखते हुए रहने में शांति तो मिलती है ना, सो इस भव में भी शांति चाहते हो तो कषाय मंद करना चाहिए। और कषाय मंद करने के फल में यदि परलोक निकल आए तो वहां भी शांति रहे। सो परवस्तुओं का त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह बात न देखो कि पहिले सम्यग्दर्शन को मजबूत कर लें फिर बाह्य चीजों का त्याग करना शुरू करेंगे। प्रथम तो तुम सम्यग्दर्शन का नियम कब मानोगे ? ऐसी ही बात बनती चली जायेगी तो बाह्य वस्तुवों का त्याग सम्यग्दर्शन न भी हो तो भी उसका त्याग उचित है। त्याग विकल्पों की मंदता में सहायक तो है। इसलिए यथाशक्ति त्याग करना ही चाहिए। पर साथ ही यह ध्यान रखो कि परद्रव्य का त्याग किया जाता है ज्ञान दर्शन स्वभाव में स्थिर होने के लिए। सो काम तो किया पर प्रयोजन का स्मरण न रहा तो वह काम विडम्बनारूप हो जाता है।

प्रयोजन के ज्ञान बिना विडम्बना—जैसे किसी सेठ के यहां शादी थी। उनके घर में एक बिल्ली रहा करती थी तो शादी के समय में वह बिल्ली इधर उधर भगे। बिल्ली का इधर उधर आना जाना असगुन माना जाता है। वास्तव में असगुन वह है जो हिंसा का कार्य हो। बिल्ली तो बड़ी हिंसक होती है सब लोग जानते हैं, इसलिए बिल्ली को असगुन माना जाता है। सो उस सेठ ने विवाह के समय में बिल्ली को पकड़कर एक पिटारे में बंद करवा दिया था। अब ५-७ वर्ष बाद सेठजी तो गुजर गए। किसी की फिर शादी आयी। तो लड़कों ने भांवर पड़ने के समय में कहा कि अभी ठहरो, पहिले कोई बिल्ली पकड़कर लावें, पिटारे में बंद करें तब भांवर पड़ेगी क्योंकि पिताजी ने ऐसा ही किया था। तो बड़ी हैरानी हुई खोज करने में, मुश्किल से एक बिल्ली पकड़ में आयी, उसको पिटारे में बंद किया तब भांवर पड़ी। भांवर पड़ने में भी देर हो गयी, सबेरा हो गया, सूर्य निकल आया। तो इसी प्रकार जब प्रयोजन का पता नहीं रहता है तो बाह्य वृत्ति में और बाह्य बातों में ऐसी ही विडम्बनाएँ हो जाती है।

भैया ! परद्रव्य का त्याग किसलिए किया जाता है ? इस लिए किया जाता है कि विकल्प हटें और ऐसे विकल्परहित अवसर में हम अपने ज्ञानस्वभाव का, ज्ञानवृत्ति द्वारा अनुभव करें, जिस इस अंत:पुरूषार्थ के बल से भव-भव के संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह है प्रयोजन त्याग का। किन्तु यह प्रयोजन जहां नहीं मालूम होता तो उस त्याग की विडम्बना हो जाती है। और जो पुरूष जानबूझ कर घर में सुविधा न हुई, अच्छी प्रकार से रहने के खाने पीने के साधन न रहे तो कोई-कोई तो साफ कह देते हैं

कि महाराज हमारे तो खाने तक की भी सुविधा नहीं है। सो हमें बाबा बना दो। अरे बाबा बनने में क्या लगता है ? तनिक कपड़े हमारे जैसे ले लिये और तनिक ऊँचा बनना हुआ तो कपड़े भी छोड़ दिये। और यदि दोनों लाभ लूटना हो कि पैसा भी पास में खूब रहे और तनिक पुजते भी रहें तो तनिक ब्रह्मचारी वगैरह १-२ प्रतिमा का नाम लेकर बन जायें। यदि इस ही भाव से त्यागी बने कोई तो वह प्रयोजन पायेगा कहां से ?

आंशिक त्याग में धर्मपालन की आम व्यवस्था—वैसे साधारणरूप से त्याग का यह नियम है कि ७ प्रतिमा तक पुरूष अपने घर की आजीविका बनाकर घर में ही शुद्ध भोजन करता हुआ रहे और धर्मसाधना करे और जो उसने दूसरी प्रतिमा में अतिथि संविभाग व्रत लिया है उसकी भी उपेक्षा न करे। साधारणतया यह है नियम की बात, पर कोई इसे भंग करे तो उसके आत्मा का संतुलन फिर बिगड़ जाता है और यदि त्याग मार्ग से ही चलना है तो फिर आरम्भ परिग्रह का त्याग करके कषाय मंद रखकर ज्ञान ज्यादा न भी हो तो भी कुछ परवाह नहीं, अपना व्रत निभाने लायक ज्ञान हो उतना ही बहुत है। थोड़ी भी आत्मतत्त्व की बात याद हो उतना भी बहुत है, पर कषाय मंद हो शांतिपूर्वक कोई ऊँचा त्यागी बनकर रहे तो उसका भी भला है।

त्यागी के दो सदवृत्तियों की अनिवार्यता—भैया ! कोई यह बात नहीं है कि उपदेश झाड़ने वाला हो वही त्यागी हो तो काम चले, पर यह बात जरूर है कि जो त्यागी बने उसकी कषाय मंद हो और उसका वार्तालाप दूसरों को हित करने वाला प्रिय लगे ऐसा उसका वचन हो। दो बातें कम से कम त्यागी में अवश्य होनी चाहियें। एक तो कषाय की मंदता याने शांति और दूसरे हित मित प्रिय वचन बोलना। यदि ये ही दो बातें न रहीं, लट्ठमार ही बोलते रहे, बोलने का भी सहूर न रखा और पद पद पर क्रोध भी बगरायें, दूसरों पर ऐंठ भी चलाए कि वाह हम तो हल्के भगवान बन गए है, हमें तो पूजना ही चाहिए, इनके सिर पर लदना ही चाहिए ऐसी बुद्धि रखें तो बतलावो अब क्या बात रह गयी जिससे आपको उससे कुछ शिक्षा मिली ? यदि आपको हम त्यागियों से किसी प्रकार की शिक्षा मिले तो आपके लिए हम त्यागी कहला सकते हैं और उल्टे आपके क्लेश के लिए कारण बनें तो आपके हम क्या कहला सकते हैं ?

त्यागभाव का महत्व—त्याग का प्रयोजन है किसी प्रकार अपने ज्ञान दर्शन स्वरूप में स्थिर हो जाना, यह बात यदि आती है मन में तब तो समझो कि हमारा जीवन सफल है। देखो त्याग किए बिना गुजारा न चलेगा। मोह-मोह करके घर में ही रहकर विषय कषाय भोगकर अंत में मिलेगा कुछ नहीं, वह रीता ही रहेगा। त्याग तो आवश्यक है किन्तु त्याग के साथ ज्ञान भी आवश्यक है। बहुत ज्ञान न हो तो जिसमें आत्महित की सुध बनी रहे इतना तो ज्ञान होना ही चाहिए। सो इस ज्ञान दर्शन गुणकर भरपूर आत्मा का यहां पर द्रव्य के साथ सम्बंध पूछा जा रहा है कि यह हेय पदार्थों का त्यागी कुछ लगता है क्या ? तो इसका इस त्याज्य पदार्थ के साथ कोई सम्बंध नहीं है। इसने तो अपने विकल्प परिणमन का विलय किया और निर्विकल्प परिणमन का उत्पाद किया, यह ही काम इसमें हुआ और इसको इस कार्य से ही लाभ

मिला। ऐसा करने में परद्रव्यों का परिहार सहायक है क्योंकि आश्रयभूत पदार्थ को छोड़ दिया तो विकल्पों को वहां अवकाश नहीं रहता है।

असद्भूत में विकल्प का अभाव—जो चीज नहीं है उस चीज को कौन पकड़ सकता है ? क्या कोई यह सोचता है कि मैं आज बांझ के लड़के से लड़ूंगा, क्या कोई यह सोचेगा कि आप मैं धुँवा के पत्ते की चटनी खाऊँगा। क्या कोई यह सोचता है कि आज मैं बादल की छाल का काढ़ा पीऊँगा ? चीज ही नहीं है तो सोचेगा क्या ? यदि यह वर्तमान चीज भी हटा दी जाय और इस प्रकार हटा दी जाय कि तत्सम्बंधी कल्पना भी मन में न जगे तो फिर विकल्प कहां से होगा, इस कारण इसका त्याग किया जाता है। यद्यपि यह नियम नहीं है कि त्याग कर देने पर विकल्प हट जाता है फिर भी नियम है कि जिनका विकल्प हटता है उनका बाह्य वस्तुवों का त्याग करते हुए विकल्प हटता है। ऐसा नहीं बनता है कि परवस्तु को भी अपनायें और निर्विकल्प बन लें। इस कारण बाह्य वस्तु का त्याग करना आवश्यक है।

त्याग के प्रयोजन का लक्ष्य हुए बिना विडम्बना—फिर भी भैया ! बाह्य वस्तु के त्याग का प्रयोजन हम जानें और प्रयोजन के लिए ही त्याग करने का यत्न करें तो यह हमारा मार्ग ठीक रहेगा। परन्तु, प्राय: होता क्या है कि जितना त्याग करें, उतना ही गुस्सा बढ़े, जिस दिन घर में उपवास कर लेते हैं, सबकी बात तो नहीं कह रहे हैं पर जिसे अपना प्रयोजन नहीं मिला है उसकी बात कह रहे हैं, गुस्सा ही भरा रहता है क्योंकि एक तो यह मन में आ गया कि आज हम त्यागी बन गए, हम इन सबसे आज बड़े हो गए, एक तो मन में यह भरे है कि हम तो धर्मात्मा बने हैं और दूसरों को बढ़िया पूड़ी हलुवा खाते देख लिया सो मन में अब ज्ञान स्वभाव की स्थिरता का प्रयोजन तो है नहीं ना, जबरदस्ती के त्याग में यह भी मन में उठ रहा है कि ये कैसा बढ़िया हँस खेल कर खा रहे हैं, सो उनके गुस्सा चढ़ती है।

शुद्ध दृष्टि बिना तृष्णादिक का प्रसार—बूढ़ों को देखा होगा उनको बड़ी ही जल्दी गुस्सा आती है। जहां ज्ञान कम होगा और तृष्णा बढ़ी हुई होगी वहां गुस्सा आता है। जिसने अज्ञान में ही जीवन बिताया उसके बुढ़ापे में तृष्णा और बढ़ जाती है। तो इसी प्रकार जिसको व्रत उपवास का प्रयोजन याद नहीं है सो उन्हें त्याग करते हुए गुस्सा बढ़ जाती है। तो बाह्य वस्तु का त्याग तो करें पर ज्ञान सहित करें, किसलिए यह त्याग करें उसका प्रयोजन तो जान लें। हम अपने स्वभाव से चिगकर बाह्यपदार्थों में दृष्टि लगाए हैं और इसी कारण मुझमें अधीरता बनी है, आकुलता बनी है। उन आकुलतावों को मिटाना है तो इसके लिए हमें अपने आनन्दमय स्वरूप में प्रवेश करना होगा। इसलिए बाह्यपदार्थों हटो। और बाह्य पदार्थों का आश्रय करके समता का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जो रागादिक परिणाम हैं ये परिणामो ! मुझसे दूर हटो, फिर हम क्या रहना चाहते ? मैं अभिराम सहजानन्द रहूंगा। मैं अपने आत्मा के समस्त प्रदेशों में सहज आनन्दस्वरूप रहूंगा। यह दृष्टि हो एक त्यागी पुरूष की। जिस दृष्टि के प्रताप से उसको त्याग द्वारा मदद मिलती है अपने आपके स्वरूप में प्रवेश करने की।

लक्ष्य बिना प्रयत्न की अकार्यकारिता—भैया ! जिसको लक्ष्य का ही पता नहीं होता तो जैसे कोई नाव खेने वाला जिसका उद्देश्य ही कुछ नहीं है कि मुझे कहां जाना है तो थोड़ा पूरब को नाव खेया, थोड़ा पश्चिम को खेया, इसी तरह चारों दिशावों में जहां चाहे नाव खेता रहता है। इसी तरह से नाव खेते-खेते सारी रात बिता डालता है, सुबह देखता है तो नाव वहीं की वहीं है। इसी तरह त्याग व्रत का भारी तो यत्न करते हैं पर प्रयोजन जाने बिना करते हैं तो वहीं के वहीं विह्वल आकुलित ज्यों के त्यों अज्ञानी रह जाते है और फिर सोचते हैं कि देखो कितना तो धर्म किया मगर शांति न मिली। अरे धर्म कहां किया था, धर्म करे और शांति न मिले यह तो नहीं हो सकता है। तो धर्म के स्वरूप को जानो और उसमें ही स्थिर होने का यत्न करो, यही त्याग का प्रयोजन है।

जिस प्रकार यह आत्मा परद्रव्यों का ज्ञायक नहीं है और परद्रव्यों का दर्शक नहीं है तथा परद्रव्यों का अपोहक नहीं है इस ही प्रकार परमार्थ से यह आत्मा परद्रव्य का श्रद्धान करने वाला भी नहीं है, इस बात को अब अगली गाथा में कह रहे हैं।

गाथा 359

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु।।३५९।।
जैसे सेटिका परद्रव्य की कुछ नहीं होती है। सेटिका सेटिका ही है, इस ही प्रकार यह सम्यग्दर्शन परद्रव्य का कुछ नहीं है। सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है।

सेटिका का परद्रव्य से असम्बंध का दृष्टांत—इस ही बात को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट यों जानिये कि सेटिका कोई सफेद गुणकर भरी हुई एक वस्तु है ? जिसे खड़िया कहो चूना कहो या कलई कहो। उस सेटिका का व्यवहार से ये सफेद की जाने योग्य भींत आदिक परद्रव्य हैं। अब ये भींत आदिक परद्रव्यों का जो कि श्वेत करने योग्य हुई उसके सफेद करने वाली यह सेटिका कुछ होती है अथवा नहीं होती है इस सम्बंध में जरा विचार करें। यदि यह सेटिका भींतादिक परद्रव्यों की होती है तो जिसका जो होता है वह वह ही होता है। जैसे आत्मा का ज्ञान होता है तो ज्ञान आत्मा ही कहलाया ऐसा स्वस्वामी का अभिन्न तात्त्विक सम्बंध है। जब सेटिका भींत आदिक की हो जायेगी तो भींत आदिक ही रहेंगे सेटिका का नाम निशान न रहेगा। परन्तु कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य में संक्रमण नहीं करता है। इसलिए किसी भी द्रव्य का विनाश नहीं होता है। सेटिका का विनाश सम्भव नहीं है। दोनों स्वतंत्र द्रव्य है। भींत अपने स्वरूप में भींत के ढंग से है और यह सफेदी अपने स्वरूप में अपने ढंग से भरी है। चीजें दोनों अलग-अलग हैं।

किसी का कोई नहीं हुआ।

सेटिका का स्वामित्व—यदि सेटिका भींत आदिक परद्रव्यों की नहीं है तो फिर किसकी है ? तो उत्तर होगा कि सेटिका की ही सेटिका है। वह दूसरी सेटिका कौन सी है ? जिसकी यह सेटिका बन जाय ? तो कोई दूसरी सेटिका अलग नहीं है। किन्तु समझने के लिए उसमें स्वस्वामी अंश माना गया है। कहते हैं कि ऐसा निर्बल स्वस्वामी सम्बंध मानने से क्या फायदा है कि जिसका कोई अर्थ ही न निकले। कहते हैं कि कुछ फायदा नहीं है। तब यह निर्णय हुआ कि सेटिका सेटिका ही है। उसमें यह मत खोजो कि सेटिका किसकी है ? जो-जो है उसको जानते जावो। वैसे यह देखने की गुंजाइश ही नहीं है कि कौन किसका है ? तुम कहते हो कि भींत की सफेदी है तो हम कहते हैं कि सफेदी की भींत है। तो अन्तर क्या आ गया ? स्वरूपदृष्टि करने वाले जानते हैं कि कोई किसी का नहीं है। सब हैं, अपने स्वरूप में हैं।

श्रद्धाता व श्रद्धेय परद्रव्य का असम्बंध—इसी प्रकार जरा श्रद्धा के सम्बंध में विचार करें, श्रद्धान करने वाला यह आत्मा श्रद्धान किए जाने वाले जीवादिक ६ द्रव्य ७ तत्त्व ९ पदार्थ इनका यहां श्रद्धान करने वाला कुछ है क्या ? द्रव्य द्रव्य में द्रव्य के ढंग से देखो तो कुछ नहीं है और इस विधि से भी देखो कि क्या यह आत्मा किसी परद्रव्य का श्रद्धान करता है। तो यह भी बात नहीं है कि यह आत्मा परद्रव्य का श्रद्धान करता है। अपने से बाहर अपने श्रद्धा गुण का परिणमन यह जीव कर नहीं सकता, अर्थात् श्रद्धेय जो बहिर्भूत जीवादिक पदार्थ हैं उनका निश्चय से श्रद्धान करने वाला आत्मा नहीं है। यदि निश्चय से श्रद्धान करने वाला होता तो उसका अर्थ यह हुआ कि यह आत्मा परद्रव्य में तन्मय हो गया। निश्चय से परिणाम और परिणामी एक होता है।

श्रद्धाता व श्रद्धेय परद्रव्य में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध का भी अभाव—व्यवहार से जो निमित्तनैमित्तिक सम्बंध निरखा जाता है यहां तो वह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध भी नहीं है कि आत्मश्रद्धान करे सो हो गया कार्य और बाह्य पदार्थों की श्रद्धा करे सो बाह्यपदार्थ हो गए निमित्त। इतनी भी बात नहीं है किन्तु श्रद्धारूप से परिणत हुए आत्मा के श्रद्धान कार्य के लिए आश्रयभूत हैं जीवादिक पदार्थ।

दृष्टांतपूर्वक श्रद्धाता व श्रद्धेय परपदार्थ के निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के अभाव का समर्थन—जैसे कोई पुरूष कुटुम्ब से राग करता है तो उस पुरूष के राग के निमित्त कुटुम्ब नहीं है किन्तु रागरूप से परिणत हुए पुरूष का आश्रयभूत है वह कुटुम्ब। जैसे कोई द्वेष करता है किसी अन्य पुरूष से तो वह अन्य पुरूष द्वेष का परिणाम का निमित्त नहीं है। निमित्त तो द्वेष परिणाम का क्रोधादिक कषाय का उदय है। पर वह अन्य पुरूष द्वेष रूप परिणत हुए पुरूष के द्वेषरूप कार्य का आश्रयभूत है अर्थात् किसका लक्ष्य करके, किसको उपयोग में लेकर वह द्वेषरूप परिणमन बना रहा है ? उसका उत्तर है वह परपदार्थ। इसी तरह

यह आत्मा जीवादिक का पदार्थों का श्रद्धान करता है तो जीवादिक पदार्थ श्रद्धान के निमित्तभूत नहीं हैं, श्रद्धान के निमित्तभूत तो श्रद्धान के आवरक जो ७ प्रकृतियां हैं उन ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है।

श्रद्धाता व आश्रयभूत श्रद्धेय परपदार्थ का सम्बंध मानने पर अनिष्टापत्ति—ये जीवादिक पदार्थ श्रद्धानरूप से परिणत हुए जीव के श्रद्धान कार्य के आश्रयभूत हैं। इन आश्रयभूत जीवादिक पदार्थों का और श्रद्धानरूप परिणत आत्मा का कोई सम्बंध नहीं है, अर्थात् स्वस्वामी सम्बंध नहीं है। यह श्रद्धाता परद्रव्य है या परद्रव्य का कुछ बने, ऐसा वहां सम्बंध नहीं है। यदि सम्बंध माना जाय तो विचार करो कि तत्वार्थ श्रद्धानरूप से परिणत यह आत्मा और इस आत्मा के व्यवहार से श्रद्धान में आ गए जीवादिक का कुछ होता तो स्वामी ही मुख्य रहता है, स्वविलीन होता है। जैसे व्यवहार में स्वामी की प्रधानता है स्व की नहीं है, इसी तरह भिन्न वस्तुओं में स्वस्वामी सम्बंध न मानना होता तो जिसको सम्बंधी माना गया वह तो हो जायेगा प्रधान और जो स्व माना गया वह हो गया गौण। तो यह श्रद्धान करने वाला यदि जीवादिक पदार्थों का है तो जीवादिक पदार्थ तो अपनी सत्ता रखेंगे और यह श्रद्धान करने वाला विनिष्ट होगा किन्तु कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप परिणम ही नहीं सकता, किसी का उच्छेद हो ही नहीं सकता। इस कारण यह श्रद्धाता जीवादिक पदार्थों का नहीं है।

परमार्थत: श्रद्धान के श्रद्धान का स्वामित्व—जब यह श्रद्धातौ जीवादिक पदार्थों का नहीं है तो पूछा गया कि यह श्रद्धान फिर किसका है ? तो यह श्रद्धान श्रद्धान का है। जैसे निश्चय से आत्मा पर को जानता नहीं है किन्तु अपने आपके परिणमन को जानता है। इसी प्रकार निश्चय से यह आत्मा परद्रव्य का श्रद्धान नहीं करता किन्तु श्रद्धागुण का जो परिणमन है उस परिणमनरूप से यह श्रद्धाता हुआ करता है। यहां यह बात स्पष्ट जान लेना चाहिए कि यह आत्मा निश्चय से आत्मा का ज्ञाता है और व्यवहार से पर का ज्ञाता है। इसका अर्थ यह नहीं करना। आत्मा को जानता है यह तो सच है और पर को जानता है यह झूठ है, यह अर्थ नहीं है, किन्तु अर्थ यह है कि पर का जाननरूप ग्रहण ज्ञान विकल्परूप से हुआ करता है। यह पर से तन्मय नहीं हो जाता। यह जानता हुआ अपने आपकी वृत्ति से ही तन्मय होता है।

सोदाहरण श्रद्धा की अपने में तन्मयता का वर्णन—जैसे हम यहीं जो कुछ अपने ज्ञान का परिणमन कर रहे हैं इसको हम बताना चाहें कि हम क्या कर रहे हैं, तो हम बाह्य वस्तु का नाम लेकर ही कह सकेंगे कि हम कमरा खम्भा घंटा ये सब जान रहे हैं, पर निश्चय से मेरा ज्ञान मेरे आत्मप्रदेश को छोड़कर इन बाह्य घंटा खम्भा आदि में तन्मय नहीं हो गया। तब निश्चय से मैंने अपने को जाना और व्यवहार से इन परद्रव्यों को जाना। ये परद्रव्य मेरी समझ में आये नहीं हैं यह बात नहीं है। आयें हैं, परद्रव्य का जानना झूठ नहीं है, पर परद्रव्य का जानना स्व के किसी परिणमन से जानने में होता है। सीधा परद्रव्य में यह ज्ञान अपना उपयोग करता हुआ परद्रव्य में तन्मय होता हो ऐसा वहां नहीं है। इसी तरह श्रद्धा करने वाला यह आत्मा श्रद्धेय जीवादिक पदार्थों का कुछ नहीं है। उन जीवादिक पदार्थों में यह श्रद्धा नामक गुण

व पर्याय तन्मय नहीं है। यह तो अपने आपके गुण में ही तन्मय है। सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शन ही है और वह अपने स्वरूप में ही अपना परिणमन कर रहा है।

इस प्रकरण का प्रयोजन—यहां यह चर्चा जो कई दिनों से चल रही है उसका प्रयोजन इतना है कि भाई वस्तु की स्वतंत्रता को देखो—वस्तु की स्वतंत्रता को समझे बिना जीव का मोह हट नहीं सकता और मोह हो हटाने से ही जीव का कल्याण है। जीव तो परिपूर्ण अपने गुण स्वरूप शाश्वत विराजमान है। उसका कहीं अधूरापन नहीं है, पर मान्यता में अयथार्थ बात है वह मान लिया इससे उसे कष्ट है। यह संसार विडम्बना यह अपने आत्मा का जैसा स्वरूप है, उससे पृथक् है, वैसा मान लें और बाह्य में सभी पदार्थ जैसे अपने स्वरूप में हैं उन्हें वैसा जान लें तो इसके मोह रह नहीं सकता।

जबरदस्त व्यामोह—भैया ! अनन्त जीवों में से सभी को छोड़कर जो दो एक जीवों में यह मेरा है ऐसी मान्यता की है यह मोह का, मूढ़ता का ही तो प्रसाद है अन्यथा बतावो अनन्त जीवों में से दो एक जीवों में कौन सी बड़ी विशेषता आयी ? क्या स्वरूप भी सब जीवों से इन दो जीवों का अद्भुत है ? या किसी अन्य जीव की परिणति से मेरे में कोई परिणमन हुआ क्या, अन्य जीवों की भांति ऐसी इस परिजन के जीव की हालत नहीं है क्या ? इसके परिणमन से क्या मुझमें कोई परिणमन हो जाता है। सारी बात ज्यों की त्यों है। जैसा अन्य जीव के साथ इसका निर्णय है वही निर्णय इन दो एक जीवों के साथ भी है, पर अनन्त जीवों में से उन दो एक जीवों को अपना मान लेना यह जबरदस्त व्यामोह है और संसार में रूलते रहने का एक साधन है। जैसे कि अनादि से अब तक करते चले आए है वही बात है।

अपनी यथार्थ सूझ—तो विलक्षण कहिए, अपना विलक्षण परिणमन कहिए एक यही है निर्मोहता प्रकट होना। इस मोह ने इस आत्मा को अपने आपमें नहीं ठहरने दिया। और यहां से भाग-भागकर अर्थात् इस उपयोग से बहिर्दृष्टि रूप करा कर बेचैन कर रहा है यह मोह। मोह रागद्वेष ये ही मात्र हमारे दु:ख के कारण हैं। दूसरा कोई पुरूष हमारे दु:ख का कारण नहीं है। कोई कुछ वर्तो, कोई कुछ करो, कोई किसी तरह रहे उससे यहां सुख दु:ख नहीं है, किन्तु अपनी कल्पना बना उस कल्पना से सुख मान लेता है और उस ही कल्पना से दु:ख मान लेता है। मुझे सुखी दु:खी करने वाला दूसरा नहीं है। साथ ही मैं भी किसी को सुखी अथवा दु:खी करने वाला नहीं हूँ। जिसका जैसा पुण्योदय है उसके अनुसार उसको वैसा ही साधन मिल जाता है। उन्हीं साधनों में से अपने आपको समझ लीजिए।

परसेवा में पुण्योदय की निमित्तता—भैया ! कोई किसी दूसरे का कुछ करता नहीं है किन्तु दूसरे के पुण्योदय का निमित्त है इसलिए सेवक बनना पड़ता है। करता कोई कुछ नहीं है। सब चाकरी कर रहे हैं। जैसे मालिक का पुण्योदय है तो हज़ारों लोग चाकरी कर रहे हैं, तो हज़ारों नौकरों के भी पुण्योदय का उदय है कि मालिक को भी उनकी चाकरी करनी पड़ती है, उनका ढंग जुदा-जुदा है। कोई किसी ढंग

से चाकरी करता है कोई किसी ढंग से चाकरी करता है। तो ऐसी वस्तु की स्वतंत्रता का जब अपने आपमें परिज्ञान होता है तब इस जीव को मोक्षमार्ग मिलता है, उससे पहिले मोक्षमार्ग नहीं मिलता है। इस प्रकार इन चार गुणों के सम्बंध में ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण और श्रद्धागुण—इन चार गुणों का आश्रय लेकर यह बात बतायी गयी है कि यह जीव निश्चय से परद्रव्य का कुछ नहीं लगता।

परकर्तृत्व के भ्रम की संभावित बुनियाद—व्यवहार से पर का ज्ञाता है, ऐसा मानकर धीरे-धीरे इससे और बढ़कर लोगों ने यह समझ लिया है कि यह पर का कुछ करने वाला है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर की मर्जी बिना पत्ता भी नहीं हिलता। इसको क्या इस तरह नहीं कहा जा सकता कि प्रभु के ज्ञान में जो आया है वही होता है। यद्यपि इस प्रसंग में प्रभु का जानन कारण नहीं है वस्तु के उस प्रकार होने में, बल्कि प्रभु के जानन में आश्रयभूत पदार्थ का परिणमन होता है। परपदार्थ के परिणमन में आश्रयभूत प्रभु का ज्ञान नहीं है लेकिन जब एक ज्ञात अवस्था ज्ञानी ने मानो जान ली कि अमुक बात होगी तो अब यह कहा जा सकता है कि ज्ञान में आए बिना नहीं हुई। यहां से जोर दे दिया और फिर अज्ञान से लौकिक पुरूषों ने मर्जी के रूप में यह समझा।

भ्रम की तरक्की—ये भैया ! मर्जी से तन्मय फंसे-फंसे यहां के ये समझदार जीव हैं, सो इस जीव ने ज्ञान को एक मर्जी और इष्ट के रूप में ही ज्ञान का स्वरूप माना है। सो ज्ञान से बढ़ बढ़कर मर्जी इसके आई क्योंकि मर्जी से रहित रागद्वेष से रहित ज्ञान का क्या स्वरूप है, यह संसारी जीव को कुछ विदित नहीं है, इस कारण लौकिक पुरूषों ने यह लगा दिया कि मर्जी हो प्रभु की तो परिणमन होता है और इस तरह बढ़कर यह कहा जाने लगा कि प्रभु की मर्जी बिना कुछ भी नहीं होता है। तो इस भ्रम में दौड़ जाने की गुंजाइश जो इसे मिली उसकी खोज करते-करते मूल में बात पकड़ी गयी तो यह विदित हुआ कि इसने अपने आत्मा को पर का ज्ञाता माना। पर का ज्ञाता मानने की बुनियाद पर धीरे-धीरे बढ़कर लौकिक पुरूषों में बात यहां तक फैल गयी कि प्रभु की मर्जी बिना कोई काम नहीं होता।

आत्मक्रान्ति से आत्मभ्रान्ति की हानि—सब बातों का निर्णय करके अंत में जब यह बात निरखी जाती है कि ओह यह आत्मा तो परमार्थ से पर का ज्ञाता भी नहीं है। यह तो अपने ज्ञानगुण के परिणमन का परिणमाने वाला ही है, इसी का नाम ज्ञाता है, तब उन सब भ्रान्तियों की भी गुंजाइश नहीं रही। तब इस ज्ञातृत्व से यह जीव निर्विकल्प समाधि पाने के योग्य हो जाता है। जब यह उपयोग चारों तरफ भ्रमा रहता है, दौड़ता कूदता है तब इस आत्मा का संतुलन बिगड़ जाता है। जहां गम्भीरता धीरता नहीं रही वहां योग्यता ही नहीं रहती कि यह आत्मा अपने आपमें विलीन होकर शांत हो जाय।

तरंगों की विलीनता—भैया ! तेज लहरों के कारण एक बड़ा भंयकर रूप रखे हुए, समुद्र के किनारे खड़े होकर देखने में भी डर लगता है क्योंकि उसकी लहर बड़े भयानकरूप से चल रही है। वही समुद्र

जब शांत होता है तो कोई नई चीज नहीं बनती है, किन्तु अपनी ही उन लहरों को अपने ही जल के उन अंगों को जो नाना रूप से दौड़ रही थीं, परिणम रही थीं, वह परिणमन विलीन हो जाता तो वह समुद्र शांत हो जाता है। वहां पूछो कि वह लहर अब कहां गयी जबकि समुद्र से शांत हो गयी ? गयी कहां, समझो कि कहीं बाहर तो गयी नहीं, जैसे समझ लीजिए कि समुद्र की लहर देखो अमुक दिशा को चली गयी सो शांत हो गयी क्या ? तो समुद्र की लहर बाहर तो कहीं गयी नहीं। तो वह लहर समुद्र के भीतर पड़ी है क्या ? नहीं। वह लहर समुद्र के भीतर भी नहीं मिलती है। तो यह विलीन होना क्या कहलाया ? यह विलीन हुई पूर्व पर्याय का विलीन होना उत्तर पर्याय रूप से हो जाने का नाम है। यह विलीनता विलक्षण है। इस विलीनता में पूर्व पर्याय न बाहर जाकर विलीन हुई, न भीतर पड़ी है किन्तु उस पूर्वपर्याय का अब नाम ही नहीं है। वह तो निस्तरंग पर्यायरूप हो गया, सो वह शांत है।

विकार की विलीनता—इसी तरह भ्रम की अवस्था में व्यवहार को ही परमार्थ मानने की अवस्था से यह जीव विह्वल व्याकुल हो रहा है। जहां इसकी भ्रमरूप अवस्था मिटी कि यह आत्मा शांत हो जाता है। पर का मैं ज्ञाता हूँ, पर का दृष्टा हूँ, पर का त्यागी हूँ, पर का श्रद्धान करने वाला हूँ, ये सब आशय पर का कर्ता हूँ। इस आशय के छोटे छोटे नाती पोते हैं। इन्हीं आशयों से बढ़-बढ़कर यह जीव कर्तृत्व पर अपना राज्य बिछा देता है। इस कारण यहां मूलतत्त्व को समझ लीजिये, ताकि किसी के कर्तृत्व भाव की गुंजाइश न रहे, इस आशय से इस प्रकरण में अब तक निश्चय दृष्टि से यह कहा गया है कि यह जीव न पर का ज्ञायक है, न पर का दर्शक है, न पर का त्यागी है और न पर का श्रद्धान करने वाला है।

वस्तु के सभी गुण पर्यायों का परवस्तु से असम्बंध—यह चातुष्क एक उपलक्षण रूप कथन है, अनेक बातें भी इसके साथ लगाते जावो। यह पर का आनन्द करने वाला भी नहीं है, यह जीव अपना ही आनन्द करने वाला है। यह भोजन का आनन्द नहीं लूट सकता, यह वैभव सम्पत्ति क आनन्द नहीं लूट सकता क्योंकि आनन्द नामक गुण तो इस आत्मा के प्रदेश में है और उसका परिणमन आनन्द गुण में ही हुआ। तो अपने में ही आनन्द गुण का परिणमन किया, अपना ही इसने मौज लिया। पर का यह जीव मौज भी नहीं ले सकता। किन्तु देखो लौकिक जीवों में यह आशय खूब भरा हुआ है कि मुझे घर का सुख है, कुटुम्ब का सुख है, धन का सुख है, किन्तु भैया ! इसको किसी भी परवस्तु से सुख आ ही नहीं सकता है। जितना जो कुछ हर्ष और विषाद आता है वह अपने ही गुण के परिणमन रूप है ऐसी वस्तु की स्वतंत्रता ज्ञात होने से यह जीव मोक्षमार्ग में चलता है और शांति लाभ प्राप्त करता है।

गाथा 360

एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाण दंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण।।३६०।।

दर्शन और श्रद्धान के वाचक का शब्दसाम्य—उक्त चार गाथावों में चार बातें बतायी गयी हैं—ज्ञायक, दर्शक, अपोहक और श्रद्धाता का परद्रव्य से कोई सम्बंध नहीं है। बतायी तो गयी चार बातें और इस गाथा में यह कह रहे है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निश्चयनय का वर्णन बताया है तो एक कौन सा खो दिया इसमें ? अगर कोई खो दिया है तो क्या जिसको नहीं कहा है क्या उसका परद्रव्य से सम्बंध है ? चारों का परद्रव्य से कोई सम्बंध नहीं है। फिर भी इस संधि वाली गाथा में तीन का जिक्र किया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्बंध में निश्चयनय का वचन कहा गया है, पर तीन ही नहीं समझना। इन तीनों में चारों ही शामिल हैं। दर्शन शब्द दर्शन शब्द के लिए आता है और सम्यग्दर्शन के लिए भी आता है। इसलिए शब्दसाम्य में इन तीनों में चारों ही कहे गए हैं।

दर्शन और सम्यग्दर्शन का निकट सम्बंध—एक दर्शन शब्द के प्रयोग से यह भी ध्वनित होता है कि सम्यग्दर्शन और दर्शन का कुछ निकट सम्बंध है, यह दर्शनगुण जो चेतना का भेदरूप है, सामान्य चित प्रतिभास है उस दर्शनगुण का और श्रद्धागुण के समीचीन पर्यायरूप सम्यग्दर्शन का निकट सम्बंध है और उस सम्बंध को संक्षिप्त शब्दों में कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि दर्शन का दर्शन सम्यग्दर्शन है। दर्शनगुण ने इस ज्ञायक आत्मा को अपने प्रतिभास में लिया है। इस दर्शनगुण का जो विषय कहा है उसको आत्मरूप से देखने का नाम सम्यग्दर्शन है।

अज्ञानी को दर्शन के जौहर का अविश्वास—दर्शन सभी जीवों के होता है। मिथ्यादृष्टि के भी दर्शन है, सम्यग्दृष्टि के भी दर्शन है और अरहंत सिद्ध भगवान के भी दर्शन है। मिथ्यादृष्टि के दर्शन बराबर होता रहता है अन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद दर्शन परिणति होती रहती है। फिर भी इस अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को दर्शन के जौहर का विश्वास नहीं होता। इसी कारण उसके सम्यग्दर्शन नहीं कहा है और सम्यग्दृष्टि को दर्शन के जौहर का पता हो जाता है, वह दर्शन के विषय का आत्मरूप से श्रद्धान कर लेता है, इसलिए उसके सम्यग्दर्शन होता है। जैसे किसी बड़ी चीज के लोभ में आकर कमरे से उठकर बाहर जायें और कमरे की चौखट, दिरौंदा थोड़ा सिर में लग भी जाय तो चूँकि उस बड़ी चीज का लोभ बहुत तेज सता रहा है सो उस चीज में ही उपयोग है, उस चीज की आसक्ति के कारण उस चौखट की चोट महसूस नहीं हो पाती है। क्योंकि किसी बड़ी चीज के लोभ में वह रंगा हुआ है। चौखट तो सिर में लग गयी पर कुछ भी भान नहीं है, इसी तरह परद्रव्य ज्ञेय का लोभी मिथ्यादृष्टि जीव के भी अन्तर अन्तर्मुहूर्त में दर्शन होता रहता है, आत्मस्पर्श होता रहता है, किन्तु परद्रव्य ज्ञेय में इसको तीव्र लोभ है, आसक्ति है। इस कारण इसे अपने दर्शन का, आत्मस्पर्श का भाव नहीं हो पाता।

विषयसुख की धुन में सुअवसर का अनुपयोग—जैसे कोई विषय सुख की धुनि वाला और विषय सुख में प्रवृत्ति रखने वाला किसी सुन्दर अवसर से लाभ नहीं उठा पाता है कि वह अपने शांतिपथ का लाभ

उठाये। इसी तरह विषय सुख की धुनि में रहने वाला यह जीव पाये हुए इस दर्शन के शुभ अवसर का लोभ नहीं उठा पाता है।

विपरीत धुन में अभीष्ट के विच्छेद का एक दृष्टांत—एक धन का लोभी धन जोड़ने की फिक्र में यहां वहां दौड़ रहा था। एक मनुष्य ने बताया कि तुम यहां वहां क्यों दौड़ते भागते हो, देखो अमुक पहाड़ में पारस पत्थर भी पड़ा हुआ है, उस पारस पत्थर से जितना चाहे लोहे को सोना बनाते जावो, क्यों व्यापारादि में कष्ट उठाते हो ? उसके मन में यह बात समा गयी। वह चला गया पहाड़ के पास दो चार गाड़ियां लेकर और वहां से पत्थर बीनकर समुद्र के किनारे जोड़ दिया। बड़ा भारी ढेर पत्थरों का लगा दिया और समुद्र के किनारे लोहे की मोटी निहाई जैसी गाड़ दिया यह परीक्षा करने के लिए कि इस लोहे में पत्थर मारेंगे जिस पत्थर से यह लोहा सोना हो जायेगा वही पारस पत्थर होगा। उससे ही फिर मन माना सोना बनायेंगे। सो वह उस लोहा में पत्थर मारे और देखे कि सोना हुआ कि नहीं। यदि सोना नहीं हुआ तो उस पत्थर को वह फेंक दे। यदि समुद्र के किनारे नहीं बैठता तो जितना ढेर इस ओर था उतना ही ढेर इस ओर लग, जाता तो परखने में दिक्कत होती।

अन्य धुन में अभीष्टविच्छेद के प्रदर्शनपूर्वक दृष्टांत का समर्थन—अब वह पत्थर उठाये, निहाई में मारे, देखे कि लोहा सोना नहीं हुआ तो उसको समुद्र में फेंक दे। अब १० हजार पत्थरों में एक पारस का भी पत्थर था सो जब लोहा सोना न हो तो उसकी धुनि बन गयी जल्दी-जल्दी करने की। पत्थर को निहाई पर मारे और समुद्र फेंके, निहाई पर मारे और समुद्र में फेंके। यह धुनि बन गयी उसकी और जरा जल्दी–जल्दी करने लगा, उठाया, मारा, फेंका, इस धुनि में इस प्रवृत्ति में एक बार पारस भी हाथ में आ गया सो उसी धुनि में उस पारस को उठाया, मारा और फैंका। फेंकने के बाद देखा कि यह तो सोना हो गया, तो पछताता है कि अब क्या करें, धुनि में रहकर उस पारस का अवसर भी खो दिया। इसी प्रकार में आत्मा को अन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यग्दर्शन के अवसर आ रहे हैं अर्थात् दर्शन अपना परिणमन कर रहा है लेकिन विषयसुख की धुन में रहने के कारण अज्ञानी जन उस अवसर को बराबर खोता रहता है।

दर्शन में दोनों दर्शन के ग्रहण का निर्णय—भैया ! ज्ञानगुण के परिणमन में तो विकल्प रहते हैं। वे विकल्प परवस्तु के ग्रहणरूप हैं, रागद्वेष रूप नहीं है किन्तु दर्शनगुण के परिणमन में पर के ग्रहण का भी विकल्प नहीं है। यह दर्शनगुण तो ज्ञेयाकार परिणमता हुआ इस ज्ञायक आत्मा का स्पर्श कर लेता है, सामान्य प्रतिभास लेता है, उसका कारण मालूम होता है कि दर्शन के साथ सम्यग्दर्शन का निकट सम्बंध है, अतएव ये चार बातें कही जाने पर भी इस संधिरूप गाथा में तीन बातों का नाम लिया गया है कि

ज्ञान दर्शन और चारित्र के सम्बंध में निश्चयनय का भासित बताया है।

निश्चय और व्यवहारनय—निश्चयनय कहते हैं केवल एक पदार्थ को देखना। उस वस्तु में जो बात पायी जाय उसको ही निहारना यही निश्चयनय का दर्शन। इस दृष्टि में एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध भी ज्ञात नहीं होता है। क्योंकि इस दृष्टि की दो पर निगाह ही नहीं है। जैसे आँख से हम जिस ओर देखें वही तो दिखेगा। यदि दाहिनी ओर की भींत निरखें तो बांई ओर की भींत कहां दिखेगी ? निश्चयनय के दर्शन में व्यवहारनय का दर्शन नहीं होता है और व्यवहारनय के दर्शन में निश्चयनय का भी दर्शन नहीं होता है, फिर भी किसी एक के मुख्य होने पर दूसरे के विषय को निरखने की बात भी अन्तर में पड़ी रहती है, इसे कहते हैं सापेक्ष बनना।

व्यवहारनय की सत्यता और असत्यता का दर्शन—व्यवहारनय का दर्शन असत्य नहीं है पर व्यवहारनय जो कहता है वह किसी एक वस्तु में नहीं पाया जाता है। इतना ही बताने का निश्चयदृष्टि के वर्णन का प्रयोजन है। जैसे कर्मोदय और विभावों का निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है यह बात असत्य रंच भी नहीं है, सही है, युक्ति पर उतरने वाली है। आगम में बतायी गई है किन्तु उस प्रसंग में भी जो भी कार्य होता है, जो भी एक परिणमन लें वह परिणमन दो में नहीं पाया गया और स्वरसत: एक में भी नहीं पाया गया, इस कारण इस निश्चयनय की दृष्टि में व्यवहार मिथ्या होता है। यह अभी ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्बंध में निश्चयनय की बात कही गयी है। इसी प्रकार अन्य गुणों के सम्बंध में जानना।

ज्ञायक आत्मा की निज में कारकता—यह ज्ञायक आत्मा क्या कर रहा है ? ज्ञान की परिणति से परिणम रहा है। क्या यह अपने आत्मा से बाहर भी कुछ कर रहा है ? कुछ नहीं कर रहा है। बाहर हो तो करने का परिणमन भी बाहर सोचा जाय। इसके बाहर में तो यह ज्ञानगुण है ही नहीं। करेगा क्या ? इस कारण इस ज्ञायक ने ज्ञायक को ज्ञायक के द्वारा ज्ञायक के लिए ज्ञायक से ज्ञायक में ज्ञान परिणमन किया, इससे बाहर इस आत्मा ने कुछ नहीं किया। यह निश्चयनय का भाषित वचन है और इस परमार्थदृष्टि से देखा जाय तो यह जानने वाला इस जानते हुए को जानता रहता है। इससे बाहर और कुछ नहीं करता है। ऐसा करता भी है इस जानते हुए के द्वारा ही, किसी दूसरे साधन के द्वारा ऐसा नहीं करता है। जानने का प्रयोजन भी जानते रहना भर है और कोई प्रयोजन नहीं है।

ज्ञातृत्व के अमित प्रयोजन की प्रसिद्धि में पुद्गल के अभिन्न प्रयोजन का दृष्टांत—जैसे पुद्गल के अस्तित्व का प्रयोजन क्या है ? ये पुद्गल किसलिए हैं? हम तो यह चाहते हैं कि ये पुद्गल न होते तो

अच्छा था। कुछ भी इनसे मतलब नहीं और उल्टा दंदफंद में पड़ गए। सो ये पुद्गल न होते तो अच्छा था, हम तो यही चाहते हैं। ये हैं क्यों ? तो अज्ञानी तो उत्तर देगा कि ये हमारे भोगने के लिए हैं, और वे तो काव्य भी बना लेते हैं,--''जिन आलूभटा न खायो, वे काहे को जग में आयो।'' ये सारे पदार्थ भोगने के लिए ही तो है और काहे के लिए है ? अरे जरा सूक्ष्म दृष्टि करके तो देखो—इन पदार्थों के अस्तित्व का प्रयोजन क्या है ? प्रयोजन तो प्रयोजक की बात के लिए हुआ करता है। अन्य वस्तु का अन्य वस्तु के लिए प्रयोजन ढूंढ़ना यह तो वस्तुस्वरूप के विरूद्ध दृष्टि है। पुद्गल है तो इनका भी प्रयोजन बतावो कि जो उस ही पुद्गल के लिए हों। अब ढूंढ़ लो, अन्य कोई प्रयोजन न मिलेगा। केवल यही प्रयोजन मिलेगा कि अपना परिणमन करते रहने के लिए ही है और उसके अस्तित्व का प्रयोजन दूसरा नहीं है। अच्छा तो पुद्गल के परिणमन का प्रयोजन क्या है ? 'है' का प्रयोजन तो परिणमना है और परिणमने का प्रयोजन क्या है ? क्यों परिणमते रहते हैं ये समस्त पुद्गल ? तो परिणमने का प्रयोजन है ''हैपना'' बनाए रहना, और दूसरा प्रयोजन ही नहीं है। ''है'' का प्रयोजन परिणमना और परिणमने का प्रयोजन ''है'' रहना, इससे आगे और कोई बात नहीं है।

व्याकरण से प्रयोजन की प्रसिद्धि—जो लोग संस्कृत भाषा जानते हैं वे समझ सकते हैं कि होने का वाचक धातु है भू जिसके भवति भवत: भवन्ति रूप चलते हैं। भू सत्तायां। भू का अर्थ क्या है ? सत्ता। वैसे प्रसिद्ध अर्थ सत्ता मायने ''है'' और भू मायने होना। होने का अर्थ क्या है ? है, और है का अर्थ क्या है ? होना। सत्ता जिस धातु से बनता है वह धातु है अस्। जिसके रूप चलते हैं—अस्ति स्त: सन्ति। उस अस् धातु का क्या अर्थ है ? तो बताया है अस् भुवि। अस् धातु का अर्थ होना अर्थात् है का अर्थ है होना, और होने का अर्थ है 'है'। यह क्या परस्पर में अभिन्न विनिमय है तो होने का सम्बंध 'है' का सम्बंध होने से रहा, होने का अर्थ व्यवहार में उत्पाद व्यय कहा जाता है। जो है नहीं वह हो गया, उसका नाम ''होना'' है और जो है सो ही है इसका नाम है ''है''। इससे सिद्ध होता है कि ''है'' से रहा और ''है'' का प्रयोजन होना और होने का प्रयोजन ''है'' है। इसको सैद्धान्तिक शब्दों में यों कह लो कि सत् का स्वरूप है उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकता।

सिद्धान्त में प्रयोजन का एकाधिकरण—उत्पाद व्यय का प्रयोजन है ध्रौव्य व ध्रौव्य का प्रयोजन है उत्पाद व्यय। साथ ही उत्पाद व्यय न हो तो ध्रौव्य न रहेगा, ध्रौव्य न हो तो उत्पाद व्यय न रहेगा, प्रयोजक न हो तो प्रयोजन न रहेगा।

दृष्टांतपूर्वक जानने के प्रयोजन की प्रसिद्धि—तो जैसे पुद्गल के अस्तित्त्व का प्रयोजन परिणमना मात्र है, सुखी दु:खी करना, भोग में आना बिगड़ना ये सब प्रयोजन नहीं हैं, इसी प्रकार आत्मा भी है तो उस आत्मा के भी हैं का प्रयोजन परिणमना है। अब इसके अन्तर में जब और विचार करते हैं तो इस विषय को सामने रखिये कि यह आत्मा जानता किसलिए है ? वह प्रयोजन बतावो जो च्युत न हो सके,

व्यभिचरित न हो सके। कार्य सिद्ध हो ही जाय। कार्य सिद्ध न हो ऐसी बात न आए। ऐसा प्रयोजन बतावो कि यह जानता किस प्रयोजन के लिए है ? इस जानने वाले आत्मा का प्रयोजन किसी अन्य वस्तु में न मिलेगा, वह सब सिद्ध न होगा, इस प्रयोजक ज्ञाता का प्रयोजन जाननभर है। यह जानता है जानने के लिए जानता है।

बच्चों के जानने का प्रयोजनरूप एक मोटा दृष्टांत—जैसे कोई कई चीजें खोलकर बैठ जाय संदूक से निकालें और पास में ५-७ बच्चे हैं तो वे उन चीजों को देखे बिना चैन न पावेंगे। उनकी उत्सुकता होती है कि हम देख लें कि क्या है ? वे लड़के रोवेंगे रिसायेंगे पर देखने जानने को वे बड़े उत्सुक रहेंगे। जब उन बच्चों को मुट्ठी खोलकर बता दिया कि यह है तो बच्चों का रूठना, दु:खी होना, बेचैन होना सब खत्म हो गया। उनसे पूछो कि तुम क्यों जानना चाहते थे ? उन चीजों को लेने का अधिकार नहीं, उन चीजों का कुछ कर सकते नहीं, क्यों उन्हें जानना चाहते ? अरे बच्चों की आदत है कि वे जानने के लिए जानना चाहते हैं, इससे आगे उनका कोई मतलब नहीं है। खाने की चीज हो तो खाने के लिए देखना चाहते हैं, कोई चीज ऐसी रख दें कि जो भोग में न आ सके उसको क्यों जानना चाहते हो बालकों ! क्यों रूसते हो ? अरे जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी। उस जिज्ञासा से उस बच्चे को बड़ा क्लेश है। कोई भी इच्छा हो जाय वह इच्छा कोई बेचैनी ही पैदा करती है। इसीलिए बताया गया कि मोक्ष की भी इच्छा मोक्ष की बाधक है। तो इच्छा जब होती है तब किसी न किसी प्रकार की बेचैनी होती है और वह जानने से ही मिटती है। इस कारण वे बालक वस्तु को जानने के लिए जानना चाहते है। उनका और कोई प्रयोजन नहीं है। यह एक मोटा दृष्टांत बताया है।

जानन और अस्तित्व के प्रयोजन की सन्धि—यह ज्ञायक आत्मा जानता है तो उसके जानन का प्रयोजन क्या है ? किसलिए जाना करता है, निरन्तर जानन का श्रम बनाए रहता है और जरा भी गम खाया नहीं जाता थोड़ी देर के लिए। ऐसी क्या आदत पड़ी है कि यह जानना देखना भर रहेगा। यह आत्मा जानता है जानन के लिए। क्या जानने के लिए ? किसको जानने के लिए ? जिसको जानता है उस तक का भी रागद्वेष नहीं है तब फिर यह जानन के लिए भी नहीं जानता, किन्तु जानते हुए के लिए जानता है। इन दो बातों में भी आंतरिक रहस्य है। जानने के लिए जानने में कुछ भेदीकरण है और हुए के लिए जानने में अभेदीकरण है। तो इस ज्ञाता का प्रयोजन जानना भी नहीं रहा, किन्तु क्या करे ? प्रत्येक परिणमन का प्रयोजन अस्तित्व बनाए रहना है। इस साधारण नियम के साथ मेल करता हुआ यह जाननरूप भी परिणमन उस ही अस्तित्व प्रयोजन को घोषित करता है। यह ज्ञायक जानता है, जानते हुए के लिए जानता है।

जानने का अभिन्न अपादान—कोई भी क्रिया हो तो कुछ खलबली मचती है और उस खलबली के आधार दो होते हैं अपादान और अपादेय। अपादान तो वह अंश है जो ध्रुव है, स्थिर है और उपादेय वह अंश है जो अध्रुव है, निकला हुआ है। जैसे वृक्ष से पत्ता गिरा, तो एक यह क्रिया हुई, खलबली मची,

यहां अपादान वृक्ष है और उपादेय पत्ता है। पत्ता गिरा कहां से ? वृक्ष से। इसी प्रकार इस ज्ञायक ने जाना तो कहां से जाना ? इस जानते हुए को ज्ञायक ने जानते हुए से जाना। ये दो द्रव्य नहीं हैं जो भिन्न उपादान और उपादेय बताए जा सकें। यह ज्ञायक अपने पुरातन ज्ञायक परिणति को अपने में विलीन करता हुआ उत्तर ज्ञायक परिणति को करता है और इस उत्पाद व्यय का आधारभूत यह ज्ञायक द्रव्य रहता है।

निश्चयदर्शन के पश्चात् व्यवहारदर्शन की अनुसिद्धि—ऐसे इस ज्ञायक द्रव्य की यह साधारण असाधारण बात सबसे निराले अपने आपके ऐश्वर्य से भरी हुई है। इसका परद्रव्यों के साथ कोई स्व-स्वामी सम्बंध नहीं है। इस प्रकार इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र और श्रद्धान के सम्बंध में वर्णन किया गया है। अब व्यवहारनय से इसकी क्या स्थिति है ? इस बात का वर्णन चलेगा। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और श्रद्धान विषयक परपदार्थों के साथ ज्ञायक, दर्शक, अपोहक, श्रद्धाता आत्मा के सम्बंध की क्या नीति है ? इस विषय में व्यवहारनय से वर्णन किया जा रहा है। इस वर्णन में यह निर्णय रखना कि व्यवहारनय की यह दृष्टि है और व्यवहारनय में अनेक पर दृष्टि होती है। एक दूसरे के सम्बंध को बताने की बात व्यवहारनय में चलती है।

व्यवहार के मूल प्रकार—व्यवहार दो प्रकार से होता है—तोड़ का और जोड़ का। अखण्ड आत्मा में यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चारित्र है इस तरह स्वभाव के खण्ड बनाना, उसे तोड़ना यह भी व्यवहार है और जो बात आत्मा में स्वभावत: नहीं पायी जाती है ऐसी चीज को आत्मा में जोड़ना यह भी व्यवहार है। सो प्रथम जो इस आत्मा में यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चारित्र है, यह श्रद्धान है। इस तरह तोड़ रूप व्यवहार किया, अब उस तोड़ के साथ जोड़ भी लगाया जा रहा है कि यह परद्रव्य का ज्ञाता है, परद्रव्य का दृष्टा है, यह तोड़रूप व्यवहार के साथ-साथ जोड़रूप व्यवहार लगाया जा रहा है। अब यहां देखो कि व्यवहार की दृष्टि से यह जीव परद्रव्य को किस प्रकार जानता है ?

गाथा 361

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णायावि सयेण भावेण।।३६१।।

दृष्टांत में निश्चय के अविरोधपूर्वक व्यवहार का प्रदर्शन—जैसे सेटिका अपने स्वभाव से भींतादिक परद्रव्यों को सफेद करती है। इस ही प्रकार यह ज्ञाता आत्मा अपने स्वभाव से परद्रव्यों को जानता है। जैसे वही खड़िया जिसको कि निश्चयदृष्टि से देखने पर इस प्रकार से देखा गया था कि यह खड़िया अपने

आपको सफेद कर रही है। इस खड़िया का इस भींत के साथ स्वस्वामित्व सम्बंध नहीं है, उस ही खड़िया के सम्बंध में व्यवहारदृष्टि से यह तका जा रहा है कि खड़िया है तो अपने आप में सफेद गुणकर भरपूर स्वभाव वाली और इस स्थिति में जो कि भींत के ऊपर बहुत पतले रूप में फैली है यह भींतादिक परद्रव्यों के स्वभाव से नहीं परिणम रही हैं। यह सफेदी अपने ही श्वेत गुण के स्वभाव से परिणमी है, फैली है, भींत के स्वभाव को ग्रहण करती हुई नहीं फैली है और साथ ही इन भींतादिक परद्रव्यों को यह खड़िया अपने स्वभाव से नहीं परिणमा रही है अर्थात् श्वेतगुण से नहीं परिणमा रही है। फिर भी इतनी बात तो देखी जा रही है कि खड़िया जो इस प्रकार बहुत पतले रूप में ऐसी विस्तृत हो गई है भींतादिक परद्रव्यों का निमित्त पाये बिना तो नहीं हुई। भींत है तो उस पर खड़िया इतनी पतली फैल गई है।

दृष्टांत में व्यवहार का कथन—यह सेटिका अपने ही श्वेत गुणकर भरे हुए स्वभाव के परिणमन से उत्पन्न हो रही हुई यह सेटिका परमार्थ से क्या कर रही है ? इसकी दृष्टि न करके व्यवहार दृष्टि से देखो भींत और सफेदी इन दोनों का सम्बंध निगाह में रखकर देखो तो यह खड़िया अपने स्वभाव से इस भींत को सफेद कर रही है ऐसा व्यवहार होता है क्योंकि सेटिका के निमित्त से इस भींत का ऐसा दिखावा बना हुआ है, इस प्रकार के निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के कारण इस सेटिका को और भींत को सफेद करने का व्यवहार बनता है।

निश्चय के अविरोधपूर्वक पर के ज्ञातृत्वरूप व्यवहार का प्रदर्शन—इस ही प्रकार इस ज्ञाता आत्मा के सम्बंध से भी देखो कि यह ज्ञाता आत्मा तो अपने ज्ञानगुण कर भरे हुए स्वभाव वाला है, जैसे खड़िया में सिवाय सफेदी के और कुछ नजर नहीं आता है इस ही प्रकार आत्मा में ज्ञानप्रकाश के अतिरिक्त और कुछ सिद्धि नहीं होती है। यह आत्मा ज्ञान गुणकरि भरपूर स्वभाव वाला है। लेकिन यह स्वयं पुद्गल आदिक परद्रव्यों के स्वभाव को नहीं परिणमा रहा है। जो खड़िया है उसकी यह खूबी है कि वा अपने सत्त्व के कारण निरन्तर परिणमती रहती है, वह दूसरे पदार्थ के सत्त्व पर आधारित नहीं है। सो यह ज्ञान ज्ञेयभूत परद्रव्य के स्वभाव से नहीं परिणम रहा है। और इसके ज्ञेयभूत पुद्गल आदिक परद्रव्यों को देखो—यह ज्ञान अपने स्वभाव से नहीं परिणमा रहा है, फिर भी ज्ञान और ज्ञेयभूत परपदार्थ में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, वह कैसे कि परद्रव्य के निमित्त से आत्मा अपने ज्ञानगुण के स्वभाव के परिणमन से उत्पन्न हो रहा है। जहां निमित्त शब्द बोला जाय वहां शीघ्र ही यह धुनि मन में रहनी चाहिए कि यह पर का करने वाला नहीं है। वह ज्ञेयभूत परद्रव्य के आश्रय से अथवा निमित्त से आत्मा ज्ञान गुणरूप से परिणमा, सो यह व्यवहार किया जाता है कि ज्ञाता ने अपने भाव से परद्रव्य को जाना।

ज्ञानविकल्प के विषयों की अनिवार्यता—भैया ! वह जानना क्या जिसमें कोई द्रव्य ज्ञेय न हो फिर तो सांख्य सिद्धांत की तरह आत्मा का निष्क्रिय परिणाम शब्दमात्र चैतन्यस्वरूप रह जावेगा। जैसे रागद्वेष परिणाम होने में कोई परद्रव्य आश्रयभूत हुआ ही करता है। यों ही यदि कुछ भी पदार्थ ज्ञेयभूत न हो तो ज्ञान का निर्माण ही क्या ? फिर अर्थ विकल्प नाम ही किसका हुआ ? जानन ही क्या कहलाया ? जहां

ज्ञेयभूत कोई द्रव्य ही नहीं फिर जाननस्वरूप ठहर नहीं सकता। सो इस पुद्गलादिक परद्रव्य का निमित्त पाकर ज्ञान गुणकर भरा हुआ यह स्वभाव अपने स्वभाव से परिणम रहा है, लेकिन व्यवहार ऐसा होता है कि यह ज्ञान इन सब पदार्थों को जानता है। यह ज्ञाता आत्मा इन समस्त बाह्य पदार्थों का है क्योंकि ये पदार्थ जो ज्ञेय हुए हैं यह ज्ञान के विषय में उपचरित हैं। इस प्रकार इन बाह्य पदार्थों के सम्बंध में यह व्यवहार है कि आत्मा अपने स्वभाव से इन समस्त बाह्य पदार्थों को जानता है।

सर्वविशुद्ध तत्त्व के ज्ञान बिना अपनी ठगाई—भैया ! यह सर्व विशुद्ध अधिकार है जहां पूर्ण विशुद्ध तत्त्व दिखाना है। जो कर्तृत्व भोक्तृत्व से रहित, पर के सम्बंध से रहित अनादि अनन्त ध्रुव अखण्ड स्वभाव है उस स्वभाव पर यहां दृष्टि दी जा रही है। जगत् के जीवों को बाहर-बाहर की बातें समझना तो बहुत आसान लग रहा है, घर कुटुम्ब धन वैभव आदि की बातें सब आसान लगती हैं और उनमें ही वे अपनी चतुरायी बनाए हुए हैं। पर यह सब चतुराई नहीं है, यह सब ठगाई है। एक आत्मतत्त्व को जाने बिना जो कुछ भी हम अपने में बड़प्पन समझते हैं, मेरे इतने मकान हैं, मेरी ऐसी दुकान है, मेरे ऐसा कुटुम्ब है, कुटुम्ब के लोग ऐसे विनयशील हैं, इन सब बातों से यह जीव जो अपना बड़प्पन मानता है सो समझते तो यह हैं कि बड़ी चतुराई का काम कर रहे हैं किन्तु हो रही हैं अपनी प्रभुता की पूरी ठगाई।

हितमय चेतावनी—भैया ! क्या है यह वर्तमान का समागम ? चार दिन की चांदनी फेर अंधेरी रात। जब तक मिलन है जब तक राग भरी बातों का आदान प्रदान है तब तक यह जीव अंधेरी में भूला हुआ मस्त हो रहा है। पर पर ही रहेगा, पर त्रिकाल में भी निज का नहीं बन सकता है। स्वभाव ही ऐसा पड़ा है, तो पर का परिणमन उस पर के कारण पर का जैसा होना है होगा। परपदार्थ जो समागम में आए हैं वे सब बिछुड़ जायेंगे। वे ठहर न सकेंगे और यह संयोग का आकांक्षी पुरूष, संयोग का आसक्त मोही पुरूष उस समय जब कि वियोग होगा तो इतना दु:खी होगा, इतना अधिक पछतायेगा कि संयोग के उतने बड़े समय का जितना भी सुख पाया है उस सबके अनुपात से भी महान् क्लेश उसे बिछुड़ने के एक ही दिन में आ जायेगा। लेकिन यह मोही जीव हठी है, अज्ञानी है। यह अपना हठ कहां छोड़ने वाला है ? हठ छोड़ दे तो अज्ञानियों में नम्बर न रहे।

मोहियों की मोहियों में पोजीशन की निरर्थक चाह—जैसे छलबाज लोग छलवानों में छलबाजी में अपना पहिला नम्बर रखना चाहते हैं और उसमें ही अपनी शान समझते हैं, जैसे चोरजन अनेक उपायों से चोरी करके चोरों में अपनी चोरी की कला को दिखाकर महान् बनना चाहते हैं, जैसे हिंसकजन साँपादिक परजीवों को बलपूर्वक मार कर मारने वालों की गोष्ठी में अपने को कलावान् बताकर महान् बनना चाहते हैं इसी प्रकार मोही जीव अपने धन घर परिवार इज्जत पोजीशन लोगों में बहुत अधिक जताकर इन मोहियों में अपने को महान् कलाकार चतुर सिद्ध करना चाहते हैं। पर न यह महान् बनने वाला रहेगा और न जिनमें अपने को महान् बनाने का, बताने का श्रम किया जा रहा है न वे रहेंगे। सीधी तौर से यह अपने

आपके अनुभव में लग जाय तो इसमें कुशल है।

सीधा स्वाधीन काम करने में ही कुशलता—जैसे जिस चीज पर कोई अधिक प्रेम नहीं हैं उस चीज पर बालक किसलिए ख्याल करेगा ? वह प्रेम ही नहीं करना चाहता। उसे जो काम कहा जाय सीधा सा वह काम भी न करना चाहे तो उसका संरक्षक उस बालक को दंड देता है, पीटता है। जब वह बालक हैरान हो जाता है तो उसको कहते हैं कि सीधे से यह काम कर लो नहीं तो कुशल नहीं है, अभी पिटेगा। इसी प्रकार हे आत्मन् ! सीधे-सीधे सही रास्ते से चुपचाप अपनी ओर मुड़कर अपने स्वतंत्र अकिंचन ज्ञानस्वरूप से भेंट कर लो। इसके निकट बैठ जावो नहीं तो यह सारा जगजाल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। जगत् में सोते हुए जीवों में अन्य चीजों का समागम हो जाना बहुत सुगम बात है। होगा ही समागम जहां जायेगा कुछ न कुछ तो पुद्गल पड़े हुए मिलेंगे ही तो उन समस्त समागमों का मिलना तो सुगम है पर अपने सहज स्वरूप का श्रद्धान जो कि अनन्त आनन्द ज्ञान ऋद्धि सिद्धि से भरपूर है, जो स्वयं ही परम वैभव कर सहित है, उसका ज्ञान होना इस जीव को दुर्लभ हो रहा है।

स्वतंत्रता के अपरिचय में क्लेश—कैसा है स्वतंत्र यह ज्ञाता आत्मा ? जैसे दीपक अपने आपमें स्वतंत्रता से जगमग होता हुआ टिमिक रहा है, उसे दूसरे पदार्थ से कुछ मतलब नहीं, कोई पदार्थ सामने आए कोई पदार्थ सामने से हटे, कैसे ही रंग वाला आए, कैसी ही परिस्थिति वाला हो, उस दीपक का कुछ मतलब नहीं है। वह तो अपने स्वरूप से अपने में जगमग करता हुआ निरंतर टिमटिमा रहा है, उसी प्रकार यह ज्ञान प्रकाशमय ज्ञाता आत्मा इसको परद्रव्यों से कुछ प्रयोजन नहीं है। यह तो अपने में अपनी सत्ता के कारण जगमग होता हुआ अपने में ही निरन्तर टिमटिमा रहा है, जाननवृत्ति से परिणम रहा है, इसे पर से कोई प्रयोजन नहीं है। कोई पर जानने में आए, कैसी ही परिस्थिति बाहर में हो इस ज्ञाता आत्मा को उन परवस्तुवों से कोई मतलब नहीं है। लेकिन अनादि से छाया हुए इस राग से, अज्ञान से अपनी ऐसी महिमा को दृष्टि से ओझल करके दीन भिखारी आशावान् बन-बनकर यह विभु क्लेश पर रहा है।

असंभव की हठें—सहारनपुर में एक जैन बालक था। यह उस समय की घटना है जब जम्बूप्रसाद जी जीवित थे, आमने सामने घर था, तो उनके हाथी को देखकर उस बालक का जी हो गया कि यह हाथी ले लें। जैसे बाजार में खिलौनों को देखकर बच्चा हठ कर जाता है—हमको यह खिलौना खरीद दो, तो उसने हठ कर लिया कि यह हाथी हमको ला दो। खैर बालक के पिता ने महावत को समझाकर हाथी दुकान के सामने खड़ा करा दिया। लो बेटा हाथी ले आए। तो वह लड़का कहता है कि ऐसे नहीं, इसे खरीद दो। यह तो थोड़ी देर को आया है फिर चला जायेगा। रोने लगा। तो महावत को समझाकर अपने बाड़े में खड़ा करा दिया, लो बेटा अब खरीद दिया है। तो अब वह बच्चा कहता है कि नहीं, इसे हमारी जेब में धर दो। अब धर दो जेब में। बुला ले आवो सब रिश्तेदार, उस बच्चे की मंशा को कोई पूरी कर दे। क्या कोई उस बच्चे की जेब में हाथी धर सकता है ? नहीं। तो जैसे बालक हाथी को जेब में धरने की

हठ करता है और उसकी हठ की पूर्ति न होने से रोता है, खेद करता है, इसी तरह यह मोही प्राणी अपना उपयोग परद्रव्यों में लगाता है और अपनी मंशा के अनुसार उनमें परिणमन करने का हठ कर रहा है।

क्लेशजाल का विनाश करने वाला ज्ञान—भैया ! परपदार्थ की परिणति इसकी मंशा के मुताबिक हो ही नहीं सकती है। यह अपने घर का राजा है, तो क्या ये सब परपदार्थ अपने स्वरूप के राजा नहीं हैं। कोई परपदार्थ इसकी मंशा मुताबिक परिणम न सके तो यह रोता है, दु:खी होता है, कष्ट उठाता है। यदि यह समझ में आ जाय कि यह इतना बड़ा जानवर जेब में कैसे आ सकेगा, बालक की ही समझ भीतर में बन जाय तो उसका रोना बंद हो सकेगा। कहीं मारने पीटने से कि तू बड़ा हठी है, बड़ा मूर्ख है इससे उसका रोना नहीं बंद होगा। उसको ही समझ आ जाय तो उसका रोना बंद हो सकता है। इसी तरह इस मोही जीव को वस्तु के मर्म का पता नहीं है। किसी पर के स्वरूप से नहीं, अपने ही गुणों में त्रिकाल रहता है पर के गुणों में एक क्षण भी इस मर्म का परिचय हो तो क्लेशजाल समाप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

शान्ति का उद्यम—भैया ! इन समस्त परपदार्थों में मेरे साथ क्या सम्बंध है, यह मैं स्वयं ज्ञान ज्योति करि भरपूर सबसे निराला हूँ। सो मेरे इस ज्ञातृत्व स्वभाव के कारण इन परपदार्थों का जानन हो रहा है। केवल ज्ञाता ज्ञेय सम्बंध है, मेरा इन सर्व परपदार्थों के साथ। किन्तु अन्य कारण कार्य आदिक कोई सम्बंध नहीं है। तब फिर इन परपदार्थों के सम्बंध में किस पर की हठ करना, इससे क्या लाभ है ? मैं अपने ही स्वरूप को निरखूं, अपने निकट रहूं और समस्त व्यग्रतावों आकुलतावों से रहित होऊँ, ऐसी भावना जगे तो इस जीव को शांति का मार्ग मिल सकता है।

ज्ञानी के अन्तर्लक्ष्य की अविचलता—इस ज्ञाता आत्मा का ज्ञेयभूत परद्रव्य के साथ कोई सम्बंध नहीं है। इस प्रकरण से यह शिक्षा लेनी है कि जब इन पदार्थों से सीधा निश्चय से जानने तक का भी सम्बंध नहीं है तो और प्रकार का सम्बंध तो त्रिकाल भी नहीं है, सो सर्व परपदार्थों से असम्बद्ध निज ज्ञाता आत्मा को अपने ज्ञान में लेना और इस ज्ञायकस्वरूप को ज्ञानरूप में ही अनुभव करना यही सर्व संकटों से मुक्त होने का सही उपाय है। इस उपाय को किए बिना अन्य दृष्टिरूप कुछ भी बात की जाय किन्तु उन उपायों से, निरखने से मुक्ति नहीं हो सकती है। सो भाई वह ठीक है जो हमारे एकमात्र ज्ञानदृष्टि रूप के उपाय में सहायक हो सकता हो अर्थात् विरोधी न बने, इसीलिए बाह्य संयम तप, व्रत आदिक करते हुए भी अपने आपके ज्ञानरूप उपाय को कभी न भूलना चाहिए।

ज्ञायक आत्मा का ज्ञेय परद्रव्य कुछ है या नहीं, इस सम्बंध में निश्चय और व्यवहार दोनों रीतियों से वर्णन किया जा चुका है। इस सम्बंध में कुछ खुलासा यों जानना कि यह आत्मा आत्मा का ही है, यह ज्ञायक ज्ञायक ही है और यह अपने आपको जानता है। तो क्या परद्रव्य के बारे में कुछ नहीं जानता ? परद्रव्य के विषय में जानता है, किन्तु परद्रव्य के विषय में अपनी ही ज्ञानवृत्ति को ज्ञेयाकार परिणमा कर

जानता है, परद्रव्य से तन्मय नहीं होता। इससे यह भी सही है कि यह ज्ञायक व्यवहार से परद्रव्य का ज्ञायक है। यह ज्ञायक निश्चय से अपना ही ज्ञायक है। अब ज्ञानतत्त्व के सम्बंध में व्यवहार का निश्चय करके दर्शनगुण के सम्बंध में व्यवहारनय क्या कहता है ? इस सम्बंध में बतलाते हैं

गाथा 362

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्साद जीवो वि सएण भावेण।।३६२।।

दर्शन के दृष्टांत में निश्चय के अविरोधपूर्वक व्यवहार का प्रदर्शन—जैसे सेटिका अपने स्वभाव से परद्रव्य को श्वेत करती है इसी प्रकार यह जीव भी अपने भाव से परद्रव्यों को देखता हे। यहां भी उसी पद्धति से सारे निर्णय देखना। जैसे यह खड़िया अपने सफेद गुण से भरी हुई अपने ही स्वभाव वाली है, यह खुद तो भींतादिक परद्रव्यों के परिणमन से परिणमती नहीं और यह अपने भी स्वभाव से भींतादिक परद्रव्यों को परिणमाती नहीं है किन्तु भींतादिक परद्रव्यों का निमित्त पाकर यह सेटिका सफेदी गुण में फैलती हुई इस रूप में परिणम गयी और यह भींतादिक सेटिका का आधार पाकर, निमित्त पाकर अपनी स्वच्छता स्वभाव को तिरोहित करके केवल देखने में सफेद रूप से प्रतीत हो रही है। इस कलई के भीतर जैसी भींत थी वह तो वही है लेकिन एकगाह संयोग हो गया इसलिए अपने स्वभाव को उसने तिरोहित किया है। इतने पर भी सेटिका सेटिका की ही है, भींतादिक की नहीं है। फिर भी दोनों का सम्बंध भी यथार्थ है अर्थात् वे हमारे अत्यंत निकट में पड़े हुए हैं। क्या भींत न हो तो आप इस खड़िया को पतले रूप में फैला सकते हैं ? नहीं। भींत का निमित्त पाकर ही यह खड़िया इस रूप में फैली। यह सम्बंध गलत तो नहीं है ? नहीं। तो सम्बंधदृष्टि से देखा जाय तो यह व्यवहार उपयुक्त है कि सेटिका अपने स्वभाव से भींतादिक परद्रव्यों को श्वेत कर रही है।

निश्चय के अविरोधपूर्वक दर्शन के व्यवहार का दर्शन—इसी तरह दिखने वाला यह आत्मा दिखने में आने वाले पदार्थ के रूप से नहीं परिणमता और यह दर्शक आत्मा अपने स्वभाव से इन दृश्य पदार्थों को नहीं परिणमाता, फिर भी यह बाह्य सम्बंध देख करके अपने दर्शन का आश्रय पाकर दर्शन गुण अपनी वृत्ति

कर रहा है और दर्शन गुण की परिणति का निमित्त पाकर ये बाह्य दृश्य कहलाते हैं। निमित्तनैमित्तिक सम्बंधवश यह व्यवहार किया जाता है कि यह दर्शक आत्मा इस दृश्य पदार्थ को देखता है।

भिन्न वस्तुओं में मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के व्यवहार की शक्यता—मास्टर लड़कों को पढ़ाता है, क्या यह बात गलत है ? गलत तो नहीं मालूम पड़ती, तो क्या यह बात बिल्कुल सही है कि मास्टर लड़कों को ज्ञान देता है ? अगर मास्टर लड़कों को ज्ञान वितरण करने लगे तो १०, २०, ५० लड़कों को ज्ञान वितरण करने के बाद फिर मास्टर कोरे रह जायेंगे। जो ज्ञान था वह तो १०, २०, ५० लड़कों को दे दिया। हुआ क्या कि मास्टर के उस श्रम का वचनों का आश्रय करके वचनों से अपने ज्ञान के व्यवसाय से अपने में ज्ञान उत्पन्न किया। इतना निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है अत: वह व्यवहार भी ठीक है और चूँकि किसी द्रव्य का गुण पर्याय किसी अन्य द्रव्य में नहीं पहुंचता, इसी प्रकार दर्शक और दृश्य परपदार्थ का कोई सम्बंध नहीं है, फिर भी व्यवहार से सम्बंध जिस दृष्टि से देखो वैसा ही दिखा करता है। अब यह अपना चुनाव है कि कौनसी दृष्टि से देखने में हमारी भलाई है, किस दृष्टि से देखते रहने में हमारा समय व्यर्थ जाता है। यह एक अपने चुनाव की बात है, पर जिस दृष्टि में जो ज्ञात हो रहा है वह सत्य है।

दर्शन की चतुर्विधता में नेत्र का दृष्टांत—जैसे मनुष्य के दो आँखें हैं। तीन भी आँखें होती होंगी ? त्रिनेत्री तो महादेव को कहते है ना। महादेव मायने बड़ा देव। जिसके देह की भी दो आँखें हों और ज्ञान का नेत्र भी चमक उठा है उसे कहते हैं त्रिनेत्री। तो बाहर से तो दो ही आँखें हैं। अब इन ही आंखों का कुछ भी निमित्त करके हम चार तरह से देख सकते हैं। कभी हम दाहिनी आँख को बंद करके दाईं आँख से देख सकते हैं, कभी हम बायीं आँख को बंद करके दायीं आँख से देख सकते हैं और दोनों आंखों को खोल करके भी देख सकते हैं और दोनों आंखों को बंद करके भी देख सकते हैं। दोनों आंखें बंद करके दिखता है या नहीं ?कोई कहेगा हां दिखता तो है थोड़ा सा उजेला सा और थोड़ा अँधेरा सा। कोई कहेगा कि न अँधेरा दिखता, न उजेला दिखता, किन्तु एक ज्ञानप्रकाश दिखता है।

ज्ञाता को वस्तुधर्म का चार प्रकार से दर्शन—इसी प्रकार दो आंखें हैं आगम में, एक द्रव्यार्थिकनय की आँख और एक पर्यायार्थिकनय की आँख। द्रव्यार्थिकनय की आँख बंद करके हम पर्यायार्थिकनय से देखते हैं और उस समय हमें यों दिखता रहता है। जग में जो कुछ है सब क्षणिक है, क्षण-क्षण में नष्ट होने वाला है। जो कुछ है सो एक नहीं है। इस प्रकार देखा करते हैं सब कुछ। जिससे हमें अनित्य भावना में मदद मिलती है। जो कुछ समागम है वह नष्ट हो जाने वाला है, यह पर्यायार्थिकनय से देखा जा रहा है। किन्तु जब पर्यायार्थिकनय को बंद करके द्रव्यार्थिकनय के नेत्र से देखेंगे तो इसे कहेंगे यह पदार्थ नित्य ध्रुव अहेतुक सहज स्वरूपमात्र है।

प्रगति में नयों का सहयोग—भैया ! नय दोनों सहायक हैं अपने आप में प्रगति में बढ़ने के लिए। द्रव्यार्थिकनय तो इस जीव को ज्ञान में बढ़ने के लिए पहिला अवलम्बन है और जो उपादेयभूत है, जिसका आलम्बन करके हम और आगे बढ़े वह द्रव्यार्थिकनय है। अनित्य भावना भाने का प्रयोजन है नित्य को

तक ले जाना, तब अनित्य भावना प्रयोजनवान् है। और यह ही तकते रहे कि जो कुछ है सब मिटता है। सब नष्ट होता है, दल बल देवी देवता और नाम लेते जावो और जिनसे दुश्मनी हो वे मर जाते है, इससे फायदा क्या निकला ? यह तो एक बकवाद सा हुआ। यदि प्रयोजनभूत नित्य तत्त्व का स्पर्श न हो तो अनित्य भावना प्रयोजनवान् नहीं है। जब अन्तर में नित्य भावना भी भरी हो तब अनित्य भावना प्रयोजनवान है।

दृष्टांतपूर्वक अन्तमर्म की दृष्टि पर बल—भैया ! ये तो सब अनित्य है। पर नित्य भी है कुछ कि नहीं ? इन सब अनित्यों का आधारभूत स्रोतरूप जो कुछ गुणपुंज है, वह है नित्य। ये सब मिट जानेवाले हैं और मैं भी मिट जाने वाला हूँ। तो मिट जानेवाला जो मैं हूँ उस मिट जाने वाले की भावना भाने से कौनसा प्रयोजन निकलेगा ? अजी नहीं, ये सब पर्यायें तो मिट जाने वाली हैं, परन्तु द्रव्य तो शाश्वत अव्याबाधस्वरूप है, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे अविनाशी नित्य तत्त्व का आश्रय बने तो अनित्य भावना भाना सफल हो जायेगा। इस प्रकार पर्यायार्थिकनय का सही ज्ञान करते हुए फिर हम द्रव्य का बोध करें, दृष्टि करें तो हमारा यह प्रयास प्रयोजन पर पहुंचाने वाला हो सकता है।

नय नयन—यहां निश्चय और व्यवहार की बात कही जा रही है, यही नेत्र है। नयन कहो, नय कहो, चक्षु कहो एक ही बात है। नेत्र का काम है जो ले जाय उसी का नाम नयन है उसी का नाम नय है। हम जब जा रहे हों तो हमारा ले जानेवाला कौन है ? यदि कोई अंधा पुरूष है तो उसको ले जाने वाला कोई दूसरा है जो उसकी लाठी पकड़े हुए है, और जो अंधा नहीं है उसे ले जाने वाला कौन है ? आँख। तो जो ले जाय उसको आँख कहते हैं। नय भी हमको मायने हमारे उपयोग को ले जाता है। यदि हम हठी हैं, रिसाये हुए हैं तो जानबूझकर गड्ढे में गिर जायेंगे। उसमें आंखों का क्या दोष है। इसी प्रकार कोई मोही है, हठी है तो वह किसी नय का हठ करके अकल्याण के गड्ढे में गिर जायेगा, पर नय ने तो अपना ठीक स्वरूप बताया ही है। उसका दोष कुछ नहीं है।

अपेक्षा से यथार्थता—भैया ! क्षणिकवाद जो सुगतमत है, यदि उसकी आँख से देखें, अपरिणामवाद है, स्वभाववाद हैं उसकी आँख से देखें उसके वाद कहने में कहीं कोई गड़बड़ है ही नहीं, पर जितनी उसकी एक आँख है उतना ही तो तत्त्व नहीं और भी तो तत्त्व है।

नय की गौणमुख्यता में सरणीसरण का दृष्टांत—जब आप सीढ़ियों पर चढ़ते हैं तो आप यह बतावो कि आप किसी एक ही सीढ़ी को देखते हैं क्या ? नहीं किसी सीढ़ी को मुख्यता से देखते हैं तो किसी को गौणरूप से देखते हैं, पर एक ही सीढ़ी को देखकर कोई नहीं चढ़ता है। उसकी सरसरी निगाह से सब सीढ़ी दिख रही हैं, और प्रसंग में आयी हुई दो तीन सीढ़ियाँ बहुत साफ दिख रही हैं। उनमें से पहली सीढ़ी पर पैर रख लिया तो अब वह गौण हो गयी, वह बिल्कुल हल्की नजर में रह गयी और जिस सीढ़ी पर चढ़ते हैं वह बहुत स्पष्ट दिखने लगी। इसी तरह वस्तुस्वरूप के महल में जाने वाले ज्ञानी पुरूष को नयों की सारी सीढ़ियाँ दिखती हैं। सरसरी निगाह से सब दिखती हैं और प्रकरण को प्राप्त जितने मंतव्यों

से प्रयोजन है वह दिखता हैं और वहां भी जिस सीढ़ी का अवलम्बन कर रहा है वह मुख्यरूप से दिखती है और अन्य सीढ़ियाँ जिनका आलम्बन कर चुका था वे गौणरूप से दिखती हैं, इसी तरह बहुमुखी स्वभाव की योग्यता वाला ज्ञानी पुरूष वस्तुस्वरूप के महल में पहुंचता है।

आत्मा का दर्शकत्व—यह आत्मा परद्रव्यों का दर्शक है, परद्रव्यों के विषय में ज्ञान किया इस आत्मा ने और उन सब परद्रव्यों के ज्ञान करने वाले आत्मा को देखा दर्शन ने, सो इस परम्परा से दर्शन परपदार्थों को देखा। दर्शन के स्वरूप के सम्बंध में दो तीन प्रकार से वर्णन आता है। कहीं लिखा है कि समस्त पदार्थों का सामान्य सत्ता का प्रतिभास होना दर्शन है, कहीं लिखा है पदार्थ का आकार न ग्रहण करके, पदार्थ में विशेषता न जान करके उनका जो सामान्य ग्रहण है उसे दर्शन कहते हैं। तो कहीं लिखा है कि आत्मप्रकाश को दर्शन कहते हैं, आत्माभिमुख चित्तप्रकाश को दर्शन कहते हैं। इन तीनों प्रकार के लक्षणों का ध्येय एक हैं। और अंत में इस निष्कर्ष में पहुंचेंगे कि आत्माभिमुख चित्प्रकाश को दर्शन कहते हैं।

सामान्य सत्ता प्रतिभास में आत्माभिमुख चित्प्रकाश—जैसे कहें कि समस्त पदार्थों के सामान्य सत् के प्रतिभास को दर्शन कहते हैं। जरा इस प्रकार यत्न तो कीजिए कि पदार्थ विशेष सत् का प्रतिभास न रहे। यदि उपयोग में कोई परपदार्थ आए तो विशेष ही प्रतिभास हो गया। विशेष सत् का प्रतिभास न करें, सभी पदार्थों के विशेष सत् का प्रतिभास छोड़ दें, छोड़ दें लेकिन अब क्या दिखा ? क्या पदार्थ का सामान्य सत् का प्रतिभास हुआ ? अरे जहां पदार्थों का इतना शब्द लगा बैठेंगे तो विशेष प्रतिभास आ ही जायेगा। विशेष प्रतिभास करने का यह व्यवसाय किया जा रहा है, तो पदार्थ का सामान्य सत् परपदार्थरूप हो गया तो वह विशेष सत् बन जायेगा। इस कारण उस दृष्टि में जहां सामान्य सत् का प्रतिभास किया जा रहा है वहां प्रतिभास में केवल चित्प्रकाश ग्रहण में रहेगा।

निराकार ग्रहण में आत्माभिमुख चित्प्रकाश—चित्प्रकाश वाली यही बात दूसरे लक्षण में है। पदार्थ का आकार ग्रहण न करें, अच्छा भाई, नहीं किया। ऐसी स्थिति में क्या हुआ यह कुछ ढीला सा बनकर बैठ गया। क्योंकि अंत: की कड़ाई में विशेष प्रतिभास आती है। जब किसी पदार्थ का विशेष ग्रहण न करें, आकार ग्रहण न करें उस समय जो सामान्यरूप प्रतिभास होता है वह पदार्थ का नहीं होता है, किन्तु वह चित्प्रकाश रूप प्रतिभास होता है।

चित्प्रकाश का अवगम—तीसरे लक्षण को तो सीधा ही कहा गया है। आत्माभिमुख चित्प्रकाश को दर्शन कहते हैं। सुनने में ऐसा लगता होगा कि आज कुछ कठिन बोल रहे हैं। आत्मा आत्मा आपने सुना नहीं है क्या ? प्रकाश, चैतन्य, प्रतिभास इन शब्दों को कई बार सुना है और कई प्रकरणों में सुना होगा, किन्तु जिसके बारे में कहा जा रहा है उसका ज्ञान हो जाने पर इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट आता है और ज्ञान न होने पर कुछ ऐसा लगता है कि कायदे के मुताबिक बात कही जा रही है और क्या कही जा रही है यह ध्यान में नहीं बैठता। जैसे बाहुबली स्वामी की मूर्ति का वर्णन करें कोई जो श्रवणबेलगोला में है कि

भाई उनकी अंगुलि इतनी लम्बी हैं, अंगूठा इतना बड़ा है, पैर का अंगूठा इतना लम्बा है यह समस्त वर्णन वह करता है, किन्तु जिसने मूर्ति नहीं देखी है, सुनने वाले यही सोचेंगे कि कायदे से बोला जा रहा है, जिसने मूर्ति देखी है उसे ऐसा लगता है कि उसको कह रहे हैं। इसी तरह कुछ थोड़ा अपने आप पर दयाकर विषयकषायों से मुख मोड़कर कुछ आत्मज्ञान की दिशा में बढ़ें और सत्य का आग्रह करें और असत्य का असहयोग करें। तो यदि एक बार भी अन्तर में विराजमान इस ध्रुव प्रभु के दर्शन हो गए तो ये सब बातें समझ में आयेंगी कि उसकी बात कही जा रही है।

परिचित के अवगम की विशदता—जैसे कोई पुरूष किसी युवक के बारे में कुछ कह रहा है, जो लोग उस युवक से परिचित नहीं हैं वे तो यों जानेंगे कि यह कहा जा रहा है। और जो युवक से परिचित हैं वह सीधा यों जानता है कि उसकी बात है यह। इसी प्रकार इस ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्य तत्त्वार्थ का जिसको दर्शन हुआ है, जिसके उपयोग की भेंट इस प्रभु से हुई है वह कुछ ही शब्द सुनकर यों समझेगा कि बात इस तरह से कही जा रही है। तो स्पष्ट समझने के लिए किसी क्षण ऐसा यत्न तो करें, गद्दी पर बैठे हों तो क्या, खाट में लेटे हों तो क्या, कहीं बैठे हों तो क्या, किसी क्षण तो इन्द्रियों को संयत करके सबको असार और बरबादी का हेतु जानकर उनके विकल्प तोड़ करके विश्राम से बैठ जावो, या ऐसी हठ करके बैठ जावो कि जो मेरा सच्चा स्वरूप है उसे यह मैं ही बताऊँगा तो सुनूंगा, मैं दूसरे की न सुनूंगा।

क्रान्ति के दो रूप—भैया ! सत्य का आग्रह करके बैठ जावो। और असत्य भिन्न जो पर हैं उनका पूर्णरूप से असहयोग कर जावो अर्थात् उन्हें अपने मनमंदिर में स्थान मत दो। तो यही है अन्याय को मिटा सकने वाला यथार्थ आन्दोलन। इस आत्मा पर क्या अन्याय हो रहा है ? इस अन्याय का मुकाबला करना है तो अपने में क्रांति उत्पन्न करें और उस क्रांति के दो उपाय करें-सत्य का आग्रह और असत्य का असहयोग इन्हीं उपायों से एक बार अपने आत्मप्रभु की झलक हो जाय तो यही सब वचन ऐसे लेगेंगे कि यह अमुक की बात कही जा रही है।

जिस प्रकार ज्ञायक का ज्ञेय के साथ व्यवहार से सम्बंध है और दर्शक का दृश्य परपदार्थ के साथ व्यवहार से सम्बंध है, इसी प्रकार इस त्यागी का त्याज्य परपदार्थों के साथ व्यवहार से सम्बंध है। उस ही व्यवहार का वचन इस गाथा में कहा जा रहा है।

गाथा 363

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेव।
तह परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण।।३६३।।

परद्रव्य के त्याग का व्यवहार वचन—जैसे सेटिका अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करता है, इस ही प्रकार ज्ञाता भी अपने भाव से परद्रव्य को त्यागता है। यह व्यवहार का भाषित वचन है। जैसे खड़िया जो श्वेत गुणकर भरे स्वभाव वाला है, वह भींतादिक परद्रव्यों के निमित्त से, अपने श्वेतगुण के परिणमन से उत्पन्न हो रही है, खड़िया परद्रव्य के स्वभाव से नहीं परिणमती और न परद्रव्य को खड़िया अपने स्वभाव से परिणमाती, फिर भी इन दोनों का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। भींत का आधारभूत निमित्त पाकर यह खड़िया इस तरह से फैल गयी और खड़िया का निमित्त पाकर भींत का यथार्थ स्वरूप तिरोहित हो गया और व्यक्तरूप श्वेत हो गया, ऐसा उनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। इस ही कारण व्यवहार से यह कहा जाता है कि जैसे खड़िया ने भींत को सफेदी की, ऐसे ही इस त्याग परिणाम वाले आत्मा ने त्याग की जाने वाली परवस्तु को त्यागा।

पर में पर के त्याग के सम्बंध का अनमेल—अपोहक आत्मा में और अपोह्य परद्रव्य में कोई सम्बंध नहीं है। यह त्यागी अपने आपमें अपना परिणमन बनाता है। बाह्य वस्तु अपने आप में अपनी परिणति से रहते हैं, इस त्यागी का त्याज्य पदार्थ के साथ कोई सम्बंध नहीं है, फिर भी परवस्तु का लक्ष्य करके इसने त्याग परिणाम बनाया और त्याग परिणाम बनाने वाले आत्मा के परिणमन को लक्ष्य में लेकर ज्ञानी जीव परवस्तु में त्याज्य शब्द का व्यपदेश करता है। ऐसा परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। इस कारण व्यवहार में यों कहा जाता है कि ज्ञाता आत्मा ने परद्रव्य का त्याग किया। शब्दानुसार यह इतना बेमेल कथन है कि त्याग की तो बात कह रहे हैं और सम्बंध जोड़ रहे हैं। जैसे कोई कहते हैं कि मैं अमुक का मित्र हू, अमुक का भाई हूँ, कोई कहते कि मैं अमुक का त्यागी हूँ। तो त्याग की बात कह रहे हैं और सम्बंध जोड़ रहे हैं। जैसे कोई कहे कि यह मेरा मित्र हैं तो उससे प्यार भरी बात ही तो कही गयी। यह मेरा मित्र है ऐसा कह देने में प्यार भरा है और यह मेरा दुश्मन है यह भी प्यार भरी बात है क्योंकि उसे अपना तो बना लिया। मैं अमुक का त्यागी हूं, यों कहने में किसी परवस्तु का सम्बंध जोड़ा जा रहा है।

अपोहक व अपोह्य में सम्बंध व्यपदेश का कारण—यह आत्मा तो ज्ञान दर्शन गुणकर भरा हुआ और दूसरों से हटे रहने के स्वभाव वाला है। परवस्तु से यह जीव आज तक कभी मिल नहीं सकता, शंकर नहीं हो सकता, निगोद जैसी दशा में भी रहा परन्तु जीव ने अपना स्वभाव नहीं तजा। तो दूसरे पदार्थों से हटे रहने का स्वभाव ही है। यह स्वयं पुद्गलादिक परद्रव्यों के स्वभाव से नहीं परिणमता और पुद्गलादिक परद्रव्यों को अपने स्वभाव से नहीं परिणमाता, लेकिन पुद्गलादिक परद्रव्यों के निमित्त से आत्मा आत्मा में ज्ञान दर्शन गुणकर भरे और पर से हटे रहने के स्वभाव से परिणमता है और इस पर से हटे रहने के स्वभाव से वर्त रहे आत्मा के निमित्त से यह बाह्य वस्तु त्याज्य का विपदेश होता है। यों परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंधवश व्यवहार में यह कहा जाता है कि ज्ञाता आत्मा परवस्तुओं का त्याग करता है। परवस्तुओं का यह त्यागी है।

त्याग के मर्म की अनभिज्ञता में पूर्ववत् ढर्रा—भैया ! अज्ञानी जीव त्याग करके त्याग के विकल्प को ऐसा चिपटाते हैं कि उनका त्याग हो ही नहीं पाता है और उस त्याग के माने हुए वातावरण में इतनी ममता होती है कि त्याग के रहस्य से दूर हो जाते हैं। किसी वस्तु का त्याग किया अथवा जैसे नहा धोकर शुद्ध होकर परवस्तु को छूने का त्याग किया, अब कदाचित् हम अपनी ओर से अपने त्याग को भंग कर किसी दूसरी चीज को ग्रहण करें तब तो हमारे त्याग में दोष आया और कोई जबरदस्ती किसी चीज का स्पर्श कराये तो त्याग का वहां भंग कहां हुआ ? वह तो शान्ति की एक परीक्षा हो रही है, लेकिन त्याग के विकल्प को जिसने ग्रहण कर रखा है उसको ऐसे प्रसंग में क्रोध आ जाया करता है। त्याग किसलिए किया था कि मेरे क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चारों कषाय न जगे और इन चारों कषायों के जगने का माध्यम त्याग बना लिया तो जैसे पहिले थे वैसे ही अब हैं।

त्याग के विकल्प की ममता में त्याग से वंचना—एक पुरूष बेवकूफ सा था। उसको लो मूरखचंद के नाम से पुकारा करते थे। सो चिढ़कर वह गांव छोड़कर भाग गया कि इस गांव के आदमी बड़े खराब हैं, हमको मूरखचंद कहते हैं। सो गांव के बाहर जाकर एक कुंवा पर बैठ गया, कुंवा में पैर लटका लिया और उसकी पाट पर बैठ गया। इतने में कोई मुसाफिर निकला। मुसाफिर बोला कि अरे मूरखचंद यहां कहां बैठे हो ? तो वह झट उठकर उस मुसाफिर के गले में लग गया। पूछा कि भाई तुमने कैसे जाना कि मेरा नाम मूरखचंद है ? वह मुसाफिर बोला कि मुझे किसी ने नहीं बताया, मुझे तो तेरी करतूत ने बताया। तो जिसको त्याग के रहस्य का पता नहीं है वह त्याग के विकल्पों को अपनाकर त्याग से विमुख रहा करते हैं।

त्यागमय अन्त:परिणाम—भैया ! जितने भी परभाव हैं वे सब औपाधिक हैं, मेरे नहीं है। ऐसे परिणामों की दृढ़ता का नाम त्याग है। और यही त्याग मेरा पुष्ट हो सके, परभावों को अपना न मान सकने के लिए आश्रयभूत बाह्यपदार्थों का त्याग किया जाता है, ऐसे त्याग का भाव करने वाला यह ज्ञानी अपने आत्मा में अपने गुणों से भरपूर, परिपूर्ण है, अपने में स्वतंत्र है, अपने आपका स्वामी है और ये बाह्य पदार्थ अपने-अपने अनुकूल परिणमते हुए सब अपने-अपने में स्वतंत्र है। किसी पदार्थ का कोई दूसरा पदार्थ क्या लगे ? कुछ भी तो नहीं है। लेकिन अज्ञानीजन व्यवहार की बातों को परमार्थ की बात मान लेते हैं किन्तु ज्ञानीजीव व्यवहार की बातों को व्यवहारदृष्टि से यथार्थ मानते हैं। किसी मूल आधार से आगे स्वच्छंद बढ़ने में तो विडम्बना है।

त्याग के प्रयोजन से चिगने में विडम्बना—एक श्रावक था, सो उसको रात को कोई चीज खाने का त्याग था। केवल दूध रखा था सो रात को दूध रोज पीते थे। तो स्त्री ने दूध जरा ज्यादा गाढ़ा करना शुरू कर दिया। थोड़ा गाढ़ा पीने लगे तो स्त्री ने और गाढ़ा कर दिया। अरे हमारे तो इस चीज का त्याग है।

केवल थोड़ा दूध रखा है। अरे तो दूध ही तो है, थोड़ा गाढ़ा हो गया। इसमें दोष नहीं है। फिर रबड़ी बन गयी तो कहा कि चीज तो वही है, जरा और गाढ़ा हो गया। यों चलते चलते खोवा भी बन गया। कोई दूसरी चीज हो तो मत खावो। अरे दूध ही तो जरा सा गाढ़ा हो गया।

त्यागमर्म से अपरिचित पुरूषों की विडम्बनावों के कुछ नमूने–भैया ! त्याग का मतलब तो विकल्प न करना था। अब त्याग करते हैं और उसमें कोई मार्ग ढूँढ़ते हैं। आज नमक का त्यागी है तो आज हलुवा बनना चाहिए। अरे त्याग का तो मतलब था कि विकल्प न उत्पन्न हो और हम अपने आत्मा के अनुभवने के लि मौका पायें। अनुभवने का मौका बनाना तो लक्ष्य में रहा नहीं, यहां तो त्याग का निभाना ही लक्ष्य में है। नमक का त्याग किया तो नमक न आ पावे। आज हमारे दाल का त्याग है तो देखो दाल की कलछुली साग में न लग जाय। अरे अगर सूखी दाल की कलछुली साग में आ गयी तो घबड़ाते क्यों हो और क्रोध क्यों करते हो ? प्रयोजन तो उस वस्तु के रस को न ग्रहण करने का था। तो कितनी ही ऐसी विडम्बनाएँ हो जाती हैं कि जिसके पीछे अब रसोईघर में ५ कलछुली और खरीदें क्योंकि घर में एक त्यागी जी हो गए हैं। अरे भैया ! कलछुली को बचावो तो अभक्ष्य से बचावो। भक्ष्य चीज में जिस चीज का त्याग किया जाता है उसका रहस्य है कि इस पदार्थ का रस न मुझे आए। रस का स्वाद लेने का मेरा त्याग है। प्रयोजन का ठीक-ठीक पता नहीं है। थोड़ा विवेक तो रखना चाहिए। कलछुली के प्रयोग अलग अलग हों यह इसलिए तो ठीक है कि फिर रसत्याग का भाव ही मिट जायेगा, अगर कदाचित् किसी समय कोई कलछुली लग भी जाय तो यह ऐसे दोष वाली बात नहीं है कि जिसके पीछे क्रोध नाम का महादोष पैदा कर लिया जाय।

त्याग का प्रयोजन और फल—भैया ! जिसका परवस्तु के त्याग करने में त्यागमात्र की ही दृष्टि है, त्याग के प्रयोजन की दृष्टि नहीं है उन्हें त्याग का फल मिल नहीं पाता। त्याग का फल है शांति। त्याग का फल है संसार से पार होना। त्याग का फल है संकटों से बचना। घर में कोई चीज आए और चार बच्चों में से एक बच्चे को दे दी, तीन बच्चों को न दी। होते होंगे कोई ऐसे पक्षपाती लोग, सो बाकी ३ लड़के मौका पाकर उसकी मुट्ठी खोलने लगे, कोई हाथ झकझोरने लगे। अब संकट आया। अब उस बच्चे को संकट से बचने का उपाय यह है कि चीज को त्याग दे। फिर काहे कोई थप्पड़ मारे, काहे कोई हाथ झकझोरे ? त्याग करे तो बच्चा संकटों में न आए। लोक में कितनी ही बातें ऐसी हैं कि संकटों से बचने का उपाय वहां त्याग नजर आता है और जहां संकट ही इसी का नाम का है कि परवस्तु को अपना मानना, अपनाना तो वहाँ त्याग बिना गुजारा ही नहीं हो सकता, पर को उपयोग में ग्रहण किए हुए है, उसका बोझ लदा है, चिंता बन गयी है, उसके संकट त्याग से ही मिट सकते हैं।

त्याग का अभिरूप—भैया ! त्याग अंतरंग में करना है, बाहर के त्याग का प्रयोजन भी अन्तरंग में विभावों का त्याग है। इस कारण इन दोनों का मेल रखते हुए, द्रव्यानुयोग सम्बंधी त्याग और चरणानुयोग सम्बंधी त्याग दोनों का मेल रखकर जो त्यागवृत्ति आती है वह कार्यकर होती है। त्याग नाम ज्ञान का है। परमार्थ से व्याख्या की जा रही है, अमुक परपदार्थ मेरा है ऐसा विकल्प करने का नाम तो असंयम है और कोई पर मेरा नहीं है, मैं तो यह ज्ञानमात्र हूँ, इस प्रकार के अमली ज्ञान का नाम संयम है।

त्याग में अन्त:स्वरूप का एक दृष्टांत—जैसे आपने और आपके पड़ोसी ने अपनी-अपनी एक-एक चादर एक ही धोबी के यहां धुलने को दे दी। दो दिन बाद आप धोबी के यहां चले गए और चादर ले आए और उस चादर को तानकर आप सो गए। दो चार घंटे के बाद में पड़ोसी गया अपनी चादर लेने। दे दी चादर धोबी ने, पर उस चादर को देखकर कहता है कि यह मेरी चादर नहीं है। इसमें मेरे चिन्ह नहीं नजर आते हैं। धोबी बोला-अहो वह चादर तो बदल गयी है। तुम्हारे पड़ौस में अमुक रहता है ना, उसके यहां पहुंच गयी है। सो वह उस चादर को न लेकर खाली हाथ चला आया और जो चादर ताने सो रहा था उसे जगाया। चादर का खूँट खींचा। जगने पर कहा कि भाई यह चादर मेरी है, तुम्हारी नहीं है, बदल गयी है। तब वह अपनी चादर के निशान देखने लगा। उसकी चादर में जो निशान थे देखा कि उसमें नहीं हैं। इतना ज्ञान होते ही उसके चित्त में समा गया कि यह मेरी चादर नहीं है। तो ज्ञान में त्याग आ गया कि नहीं ? आ गया, पर अभी उतार कर देने में थोड़ा विलम्ब लगेगा। अन्तर में उसके विशुद्ध त्याग हो गया।

दृष्टांत में ज्ञानी का त्याग विषयक अन्त:निर्णय—कदाचित् कुछ लोभवश वह कहेगा कि मेरी चादर मिले तब दूंगा। जैसे कितने ही ईमानदार लोग अपने जूते उतार कर सभा में प्रवचन सुनने आते हैं ना और उनके जूता कोई दूसरा ले जाय और दूसरे के जूता खाली मिल जायें तो वह अपनी गणित लगा लेता है। किसी ने चारी की, वह हमारे लिए ये छोड़ गया है। तो उसको पहिन कर चला जाता है। यह ईमानदारी नहीं है। ईमानदारी तो यह है कि रोनी सी सूरत लेकर घर भाग आयें कि हमारे जूती खो गए हैं। तो कदाचित् वह थोड़ा इस लोभ की वजह से कि हमें मिलेगा चादर दूसरी तो यह देंगे, वह इतना भी कह देता हैं कि बतलावो हमारी चादर कहां है ? ऐसा भी चाहे कहे, पर अंतरंग में उसके यह ज्ञान जग गया है कि यह चादर मेरी नहीं है। इस भीतर के आशय को कौन बदल सकेगा और फिर कितना ही वह लड़े, आखिर देना ही तो है यह निर्णय उसके बराबर है। दूसरा पुरूष जब उसकी चादर लेता है और वह देख लेता है तो तुरन्त उस चादर का त्याग कर देता है। त्याग तो उसने तभी कर दिया था जब ज्ञान जगा था कि यह मेरी चादर नहीं है।

त्याग का स्वरूप और उपाय सम्यग्ज्ञान—इसी प्रकार ये परवस्तु मेरी कुछ नहीं हैं, ये अपने स्वरूप से प्रवर्त रहे हैं, मैं अपने स्वरूप में रह रहा हूँ, ये बाह्य पदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं और इन बाह्य पदार्थों का लक्ष्य करके जो मेरे में भाव बन रहा है यह भाव भी मेरा नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान जग जाना सो वास्तव में त्याग है और उस ज्ञान की स्थिरता रह सके उसी का उपाय बाह्य वस्तुओं को हटा देना है और अपने आपको संविक्त बना लेता है। कोई करे तो, यही उसके सही त्याग की दिशा है, इस त्याग के फल में इस आत्मा को मिलता क्या है ? अपने आप में अनाकुलता।

भैया ! त्याग से ही संसार पार किया जा सकता है, ऐसा ही व्याख्यान एक साधु का हो रहा था। बड़े-बड़े सेठ सुनने आते थे। एक दिन वह साधु दूसरे गांव को जाने लगा तो रास्ते में एक नदी पड़ी । जैसे मान लो चम्बल नदी पड़ी क्योंकि यहां से पूरब को जाना हो तो चम्बल ही पड़ेगी। तो नाविक से कहा कि हमें नदी पार करा दो। तो नाविक ने कहा कि दो आने पैसे देने पड़ेंगे। साधु बोला कि पैसे नहीं हैं। तो नाविक बोला कि ऐसे नहीं पार किया जायेगा। साधु ने सोचा कि अच्छा उस पार न सही इसी पार सही। वह उसी किनारे बैठा रहा। कुछ देर बाद एक सेठ जी आए। सेठ जी ने पूछा कि महाराज आपको कहां जाना है ? तो साधु बोले कि हमें तो नदी के उस पार जाना है। तो सेठ ने दो आने अपने और दो आने साधु के देकर नदी पार किया। पार होकर सेठ साधु से पूछता है कि महाराज आप तो यह कह रहे थे कि त्याग से इस संसार समुद्र को परा कर लिया जाता है पर महाराज आप तो यह छोटी सी नदी भी नहीं पार कर सके। तो साधु बोला कि देखो यह नदी त्याग से ही पार हुए हैं। तुम्हारी चवन्नी यदि अंटी में ही दबी रहती उसका त्याग नहीं करते तो नदी कैसे पार कर सकते थे ? यह नदी त्याग से ही पार की गयी और संसार समुद्र समस्त वस्तुवों के त्याग करने से ही पार किया जा सकता है।

निजग्रहण अपरनाम परपरिहार—त्याग नाम है पर से विविक्त ज्ञानमात्र आत्मा की ओर रहने का। बाहरी चीजों का कौन त्याग कर सकेगा ? जैसे हरी का त्याग करते हैं ना। जब नाम लेकर हरी का त्याग करें तो कहां तक लाखों हरियों का त्याग किया जाय। तो १०-५ हरी का नाम लिखकर शेष सबका त्याग कहा जाता है, संसार में अनन्त पदार्थ हैं, उन सबसे मैं न्यारा ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे परिणाम का नाम परमार्थ से त्याग है और यह त्यागी इस त्यागी का ही है परद्रव्य का त्यागी नहीं है।

जिस प्रकार यह आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नहीं है, परद्रव्य का दर्शक नहीं है, परद्रव्यों का त्यागी नहीं है इसी प्रकार यह आत्मा परद्रव्यों का श्रद्धानकर्ता भी नहीं है। इस बात का वर्णन अब इस गाथा में करते हैं।

गाथा 364

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण।।३६४।।

श्रद्धाता व श्रद्धेय परपदार्थविषयक व्यवहार कथन—जैसे सेटिका अपने स्वभाव से परद्रव्य को श्वेत करती है इस ही प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने भावों से परद्रव्यों का श्रद्धान करता है। यह व्यवहारनय का कथन है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। उसमें श्रद्धेयरूप जीवादिक बाह्य पदार्थ हैं उनका निश्चय से श्रद्धान करना नहीं होता है अर्थात् श्रद्धेय परद्रव्य में यह तन्मय नहीं होता। तो फिर क्या रहता है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन रूप ही अपने स्वरूप में ठहरता है। जैसे श्वेतगुणकर भरपूर यह खड़िया अपने स्वभाव से परिणम रही है, भींतादिक परद्रव्यों के स्वभाव से नहीं परिणमती। खूब देख लो।

उपदृष्टान्तपूर्वक व्यवहारसम्बंधक दृष्टांत का विवरण—एक अपने कपड़ों को ही देख लो। कोई मनुष्य एकदम लाल कपड़े पहिने है ऊपर से नीचे तक। तो लाल कपड़ों ने आदमी को लाल कर दिया क्या ? लाल कपड़ा अपने स्वभाव से परिणम रहा है आदमी के स्वभाव से नहीं परिणम रहा है। आदमी अपने ही रूप परिणम रहा है, कपड़ा अपने ही रूप परिणम रहा है। मगर जिस तरह से कमीज या ओढ़नी ओढ़ी जाती है। आदमी न हो तो भला उसे आकाश में उस ढंग से उड़ा दो। कोई आधारभूत परद्रव्य न हो तो यह कपड़ा कमीज इस तरह से तो नहीं फैल सकता, जैसा आदमी के पहिनने में फैला है। तो इतना निमित्तनैमित्तिक सम्बंध तो है इस कपड़े के इस आकार में फैलने का, पर आदमी ने कपड़े में कुछ नहीं किया, कपड़े ने आदमी में कुछ नहीं किया, यह बात तो जरा जल्दी समझ में आती है। ऐसी ही बात बिल्कुल इस कलई और भींत की है। मनुष्य के मानिन्द यह भींत बिल्कुल स्वतंत्र अपने रूप है और वस्त्र के मानिन्द यह कलई अपने रूप में बिल्कुल स्वतंत्र है, एक दूसरे रूप नहीं परिणमती है, फिर भी परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, इस कारण व्यवहार में यों कहा जाता है कि कलई ने भींत को सफेद कर दिया।

श्रद्धाता व श्रद्धेय का सम्बंध व्यवहार—इसी तरह श्रद्धा नामक शक्ति जो कि परद्रव्य जैसा है उस रूप से परिणमे, श्रद्धा करे ऐसी वृत्ति रखता है। उस श्रद्धारूप से परिणमते हुए जीव का इन परद्रव्यों से सम्बंध नहीं है, परद्रव्य का स्वामी वह पर ही है, हम परद्रव्य के कर्ता नहीं है। और वे परद्रव्य इसका श्रद्धान बनाते नहीं हैं, किन्तु परस्पर में एक ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि यह श्रद्धाता अपने रूप

से परिणम रहा है। उसमें विषयभूत बाह्य पदार्थ होते हैं।

श्रद्धान और श्रद्धान के विषय की अनिवार्यता—भैया ! जीव कहीं न कहीं श्रद्धान तो बनाता ही है। कोई भी जीव हो, मिथ्यादृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि हो, किसी न किसी जगह उसका श्रद्धान अटका है। अज्ञानियों का कुटुम्ब और वैभव में श्रद्धान अटका है, सम्यग्दृष्टि जीव का अपने स्वभाव में श्रद्धान अटका है। श्रद्धान कहते हैं उसे कि जिसके प्रताप से जिसमें रूचि जगे। यद्यपि रूचि ही श्रद्धान नहीं है किन्तु श्रद्धान का फल रूचि है। जिस का जहां श्रद्धान होगा वैसी उसकी रूचि होगी। तो जिसका वैभव और कुटुम्ब में रूचि है उसके श्रद्धान कहां कहा जायेगा ? वैभव और कुटुम्ब में। और जिसको निज सहज स्वभाव के देखने की ही रूचि रहती है उसका श्रद्धान कहां कहा जायेगा ? अपने आपके सहज स्वभाव में।

श्रद्धान और रूचि की अनुरूपता—भैया ! जैसी श्रद्धा होती है वैसी रूचि जगती है और उस ओर की ही प्रवृत्ति होती है। श्रद्धानपूर्वक किया हुआ कार्य फलवान होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव जो भी कार्य करता है वह श्रद्धानपूर्वक ही तो कर पाता है। पर यथार्थ श्रद्धापूर्वक जो कार्य होता है वह यथार्थ प्रयोजन को सिद्ध करता है। लोक में भी कोई नियम श्रद्धापूर्वक लिया जाय तो उस नियम का भी फल उत्तम होता है लोक दृष्टि में। फिर धार्मिक कर्तव्य के नियम यदि श्रद्धापूर्वक हों तो भी उत्तमफल देने वाला होता है। अब श्रद्धा तो मन में बनी है कुटुम्ब वैभव की और प्रवृत्ति रखते हैं पूजा पाठ की तो यह बेमेल काम हुआ कि नहीं ? मेल कहां खाया और जब मेल नहीं खाता तो शांति भी वहां नहीं मिलती। और धन का मिलना कोई पूजा के आधीन बात है नहीं। वह तो पूर्वकृत पुण्य के अनुसार आता है। तो जब ऐसे लोगों को न तो धन वैभव मिलता है और शांति मिलती है बल्कि विवाद झगड़े कुबुद्धि ये अवगुण सताते हैं तो दर्शक लोगों की श्रद्धा धर्म से हटने लगती है। ये तो बने हैं बड़े धर्मात्मा। इनकी तो दशा देखो। जो पुरूष मायाचार सहित धर्म की बातें रखता है तो वह केवल अपनी ही दुर्दशा नहीं बनाता, किन्तु अनेक लोगों की दुर्गति बनाने में निमित्त होता है।

निर्माया हृदय ही धर्म का अधिकारी—धर्मपालन मायाचार में नहीं होता। ब्रह्मगुलाल मुनि की बात सुनी होगी। वे बहुत-बहुत भेष बनाया करते थे। सो उससे राजा प्रसन्न रहे। किसी मंत्री को यह बात खटकी तो राजा से कहा कि महाराज इससे कहो कि कल सिंह का भेष बनाकर सभा में आए। राजा ने कहा कि कल आप शेर का स्वांग बनाकर सभा में आना। तो कहा कि महाराज शेर का स्वांग बड़ा कठिन होता है। कहीं एक आध खून हो जाय तो माफ करना होगा तब स्वांग बनाया जा सकता है। अच्छा भाई माफ। जब शेर का स्वांग बनाकर आया तो परिणाम भी उस ही रूप बनाना पड़ता है तब तो स्वांग की बात आती है। तो जब वहां से निकला सिंह, वही ब्रह्मगुलाल, तो राजा के लड़के ने कुछ तुच्छ बात कह दी कि यह आया है गीदड़। तो उसके रोष आया और अपना पंजा उस राजपुत्र के मार दिया। राजपुत्र मर गया, पर राजा तो वचनबद्ध था। कहे क्या ? तो मंत्रियों ने राजा को यह सलाह दी कि आप इससे यह

कहो कि मुनि का भेष बनाकर सभा में आए। राजा ने ब्रह्मगुलाल से कहा कि मुनि का भेष बनाकर सभा में आए। तो वह बोला कि महाराज इस भेष को बनाने में ६ महीने सीखना होगा। साधुपद ऐसा नहीं है कि आया मन में तो हो गए नंगे। यों साधुता नहीं होती है तो इसके लिए तो हमें ६ मास तक अभ्यास करना होगा। राजा ने कहा अच्छा ६ महीने सही। उन ६ महीनों में ब्रह्मगुलाल रात दिन स्वाध्याय, ध्यान, आत्मभावना में रहा आया। अंत में जब वैराग्य हुआ तब मुनि का भेष बनाकर पिछी कमण्डल लेकर सभा के सामने से निकल गया। राजा ने बहुत बुलाया, पर ब्रह्मगुलाल ने कहा कि बस मुनि भेष में यही होता है।

श्रद्धान सहित नियम का निर्वाह—भैया ! किसी से प्रेम नहीं करे, किसी वस्तु में मोह नहीं करे, किन्हीं भी पदार्थों का परिग्रह न करे, किसी की बात न सुने, अपने ज्ञान ध्यान तप में लीन रहे यह है साधु की चर्या। साधु तो भगवान की मुद्रा में है ना। जैसे प्रभु रागद्वेष से परे है तो यह भी पदवी के अनुसार रागद्वेष से परे होगा तो बस निकल गए सभा के सामने से। श्रद्धापूर्वक जो नियम होता है उस नियम में बाधा नहीं आती है। अब श्रद्धान तो है और तरह का, रूचि तो है और प्रकार की और धर्म का रूपक रखे हैं तो उसका मेल नहीं खाता है। जो भी नियम ले उस नियम की सच्चाई से श्रद्धा है तो वह नियम अवश्य फलेगा और उसका फल उत्तम मिलेगा।

श्रद्धानसहित नियम का परिणाम—एक सेठ थे तो उससे साधु ने कहा कि तुम कोई नियम ले लो। तो वह बोला कि महाराज हमसे नियम का पालना कठिन है सो महाराज नियम तो मुश्किल है साधु ने कहा कि देवदर्शन रोज कर लिया करो। सेठ बोला-महाराज मंदिर तो एक फर्लांग दूर है। तो तुम्हारे घर के सामने क्या है ? सेठ ने कहा कि कुम्हार का घर है। उसके यहां क्या है जो तुम्हें शीघ्र दिख जाय। सेठ ने कहा कि पड़ा बँधा रहता है, भैंसा उसकी चाँद रोज दिख जाती है। साधु ने कहा कि अच्छा उसी की चाँद को देखकर खाना खाने का नियम लो। कहा कि अच्छा महाराज यह तो कर लेंगे। अब एक दिन कुम्हार अपने पड़ा को लेकर जल्दी खान में चला गया तो वहां खान खोदते हुए में एक अशर्फियों का हंडा उसे मिला। यहां क्या हुआ कि जब सेठ को उसके घर में पड़ा न मिला तो सीधे वह उसकी खान में पहुंचा। भैंसे का चाँद देख लिया। जब सेठ खान से कोई २५-३० हाथ दूर था तो कुम्हार ने खड़े होकर देखा कि हंडा पाया है तो कोई देख तो नहीं रहा है। देखा कि सेठ जी खड़े हैं। लो सेठ जी से कुम्हार ने कहा कि सेठ जी सुनो। तो सेठ जी ने कहा कि बस-बस देख लिया। अरे सुनो तो बस-बस देख लिया। वह तो यह कह रहा था कि हमने भैंसे के चाँद को देख लिया क्योंकि हमें दर्शन इसके करना था, भूख लगी है, अब जाकर खाना खायेंगे। कुम्हार ने कहा—अरे सुनो तो। कहा—बस देख लिया। क्या देख लिया सुनो तो सही। बस सब देख लिया। जो देखना था सो देख लिया तो सेठ अपने घर पहुंचा।

अब कुम्हार सोचता है कि सेठ ने देख लिया है, यदि वह राजा से कह देगा तो सारी अशर्फियाँ छिन जायेंगी। सो वह सेठ के यहां सारी अशर्फियाँ लेकर पहुंचा। सेठ से कहा कि देखो किसी से कहने

की बात नहीं है, इतनी अशर्फियां मिली हैं, आधी आप ले लो आधी हम ले लें। कुम्हार आधी अशर्फियां देकर चला गया। अब सेठ सोचता है कि जब एक अटपट नियम पालने पर इतनी अशर्फियां मिलीं तो साधु महाराज जो कहते थे वह ठीक ही कहते थे कि प्रभु के दर्शन करने का रोज का नियम रखो तो कोई अलौकिक बात मिलती है। सो भाई यदि कोई श्रद्धा सहित प्रभु दर्शन का नियम रखता है तो उसे अलौकिक निधि ही मिलती है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

आत्मवैभव की श्रद्धा में हित—अलौकिक निधि की तुलना इस लोक की निधि से नहीं हो सकती। यह लोक की निधि, धन, वैभव इस जीव के शांति का कारण नहीं है। पाप का उदय आता है तो लौकिक वैभव की तुलना मन में आती है। तृष्णा करना पाप है या पुण्य ? पाप भाव है। पाप भाव से की हुई प्रवृत्ति से शांति आए यह कैसे हो सकता है ? यदि वास्तविक मायने में इस ज्ञानानन्द निधान अमूर्त सबसे निराले इस ज्ञाता आत्मा की श्रद्धा हो तो वहां से शांति का उदय होगा। अशांति का वहां काम नहीं है। अशांति होती है परद्रव्यों में हित की श्रद्धा रखने वालों को। क्योंकि पर में तो हित माना और पर का परिणमन अपने आधीन नहीं तब देख-देखकर दु:खी ही तो होना पड़ेगा। मोक्षमार्ग में यथार्थ श्रद्धान का सर्व प्रथम स्थान है। शुरू बात होती है मोक्ष मार्ग में चलने की तो इस यथार्थ श्रद्धान से होती है।

पर्यायबुद्धि का महान् अपराध—भैया ! क्या चाहिए ? मुक्ति। मुक्ति किसको चाहिए ? इस आत्मा को। जिस आत्मा को मुक्ति चाहिए उस आत्मा को ही न पहिचानें कि यह परमार्थ से किस रूप है, तो मुक्ति कहां से होगी ? बैल, घोड़ा, कुत्ता, मेंढक, चूहा व हाथियों को सम्यग्दर्शन हो जाय जिसने न संस्कृत सीखा, न प्राकृत सीखा, न व्याख्यान देना सीखा, न चर्चा करना जाना ऐसे मेंढ़क बंदर नेवला साँप आदिक को सम्यक्त्व जग जाय और यहां बड़ा ज्ञान सीखते हैं, बड़ा यत्न करते हैं और फिर भी सम्यक्त्व न जगे तो इसमें कोई अपराध तो ढूंढ़ना चाहिए। अपराध है परद्रव्य की तीव्र रूचि। जो पढ़ता है उसको अपने प्रयोजन में ढालता है। शुद्ध सत्य प्रयोजन उसके नहीं रहता है। तब जो विद्याएँ पढ़ीं वे मान के लिए पढ़ीं। विवाद के लिए पढ़ीं, हित के लिए नहीं पढ़ीं हैं। उन संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों ने जिसने कि सम्यक्त्व पाया है उनका मान विवाद हठ ये कुछ नहीं होते। वे अपने स्वरूप की श्रद्धा कर लेते हैं और ये मनुष्य हम आप नहीं कर पाते। न कर सकें तो यह एक विषाद की बात है।

तृष्णा क्लेश की जननी—आत्महित की तो बात दूर ही है। रात दिन चित्त में यह बात रखे रहते हैं कि हाय हम दु:खी हैं, हम दरिद्री हैं, हमारे पास थोड़ा वैभव है। अरे उन संज्ञी तिर्यंचों से आप हम कितने अच्छे हैं, उन कीड़े, मकोड़ों से हम आप कितने अच्छे हैं ? जो वर्तमान में अच्छापन पाया उसका संतोष नहीं किया जाता। तृष्णा में यह हाल होता है कि जो मिला है उसका आनन्द भी नहीं पाया जा सकता है।

श्रद्धा का विस्तार—यह जीव श्रद्धान करता किसका है ? व्यवहार में तो परद्रव्यों का श्रद्धान करता है और परमार्थ से अपने स्वरूप रूप का श्रद्धान करता है। अपने ही परिणमन का श्रद्धान करता है। इस ही श्रद्धान गुण के परिणमन से परिणमता हैं। सो इस जीव का श्रद्धेय जीवादिक परपदार्थों के साथ सम्बंध

ही नहीं है। श्रद्धान इनका करता हो इतने मात्र का भी स्वामित्व परपदार्थ से नहीं है। फिर मैं वैभव का स्वामी हूँ, इतने परिजन का स्वामी हूँ, यह बात तो आयेगी कहां से ?

आत्मपरमार्थता—यह प्रकरण चल रहा है जोड़ और तोड़ दोनों व्यवहारों से रहित परमार्थ स्वरूप का। आत्मा में रागद्वेष कुटुम्ब वैभव जोड़ना यह तो है जोड़ का व्यवहार व आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है इस तरह के भेद करना यह तोड़रूप व्यवहार है। आत्मा जोड़ से और तोड़ से रहित अपने स्वरूप मात्र अखण्ड वस्तु है। इस आत्म पदार्थ की जो श्रद्धा करते हैं उनकी अलौकिकी वृत्ति हो जाती है। लोग गाली दें तिस पर भी बुरा न माने तो सुनने वाले, देखने वाले उसको कहते हैं कि यह कैसा पागल हो गया है ? कुछ अपनी बात ही नहीं समझता है तो ज्ञानी जीव की वृत्ति अलौकिकी होती है। लोग जैसा करें उससे उल्टा काम है इसका। लोग संचय करते हैं और यह त्याग पर उतारू है। कितना उल्टा काम है इसका ?

ज्ञानी व अज्ञानी की वृत्तियां—भैया ! कृपण पुरूष तो दूसरों को दान देता हुआ देखकर दूसरों को बुद्धिहीन समझता है और सोचता है कि इसके दिमाग में कुछ फितूर होगा। एक बार एक कृपण ने किसी सेठ को वस्त्र, भोजन आदि बाँटते हुए देख दिया। बस, देखते ही उसका चित्त दु:खी हो गया, हाय कैसा धन बांटा जा रहा है ? उसके सिर दर्द हो गया चेहरा मलिन हो गया। मलिन चेहरा लेकर घर आया तो घरवाली भी उसके अनुरूप थी, जैसा कि वह सेठ कृपणता की वृत्ति वाला था। पूछती है—'नारी पूछे सूमसे काहे बदन मलीन। क्या तेरो कुछ गिर गया या काहू को दीन।।' वह जानती थी कि किसी को कुछ दे दिया होगा आज या कुछ गिर गया होगा सो दु:खी है। उसे अभी रहस्य का पता नहीं है। तो सूम कहता है--''ना मेरा कुछ गिर गया ना काहू को दीन। देतन देखा और को तासो बदन मलीन।।'' ज्ञानी और अज्ञानी का जोड़ कैसे मिलावोगे ? जिसको जैसी श्रद्धा होती है उसके अनुसार उसकी वृत्ति होती है।

परमार्थ श्रद्धान—भैया ! हमें प्रवृत्ति चाहिए शांति की। शांति किस प्रकार मिले, इसका उपाय है वस्तु की स्वतंत्रता का श्रद्धान रखना। बाहर में कोई कैसे कुछ परिणमे वह उनकी वृत्ति है, उससे मेरे में कुछ सुधार अथवा बिगाड़ नहीं है। ऐसा जानकर अपने आपकी ओर उन्मुखता रहे तो वहां शांति उत्पन्न होती है, ऐसी सही श्रद्धा करने वाला ज्ञानी पुरूष भी श्रद्धेय परपदार्थों का कुछ नहीं है। व्यवहार ही पर का श्रद्धान करने वाला है ऐसा कहकर निश्चय की बात का संकेत करता है। जीवादिक तत्त्वार्थों का श्रद्धान करने वाला जीव है इस प्रकार व्यवहार से कहा जाता है।

अन्य गुणों के सम्बंध की प्ररूपणा—यह जीव ज्ञायक है, दर्शक है, अपोहक है, श्रद्धाता है। क्या परवस्तु का इस आत्मा से इस रूप में भी सम्बंध है ? इसके उत्तर में निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों पद्धतियों से वर्णन करते हैं, तो इस ही तरह आत्मा के अन्य गुणों के परिणमन के साथ ही परवस्तु का क्या सम्बंध है

या नहीं है, इसमें भी निश्चय और व्यवहार के तरीके से सम्बंध जानना चाहिए, इस सम्बंध में आचार्यदेव इस गाथा में कह रहे हैं।

गाथा 365

एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो।।३६५।।

अन्य गुणों की वृत्तियों का पर से सम्बंध विषयक व्यवहारविनिश्चय—जिस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र और सम्यक्त्व के सम्बंध में आत्मा का परद्रव्य के साथ सम्बंध होने की बात निश्चय और व्यवहार से बताई है इस ही प्रकार अन्य गुणों और पर्यायों में भी समझ लेना चाहिए। जैसे एक आनन्द नामक गुण है, पहिले आनन्द गुण की वृत्ति को जान लें, आनन्दगुण आत्मा में त्रैकालिक गुण है और उसके परिणमन ३ प्रकार के हैं। दु:ख, सुख और आनन्द। दु:ख कहते हैं उसे जो इन्द्रियों को असुहावना लगे। सुख कहते हैं उसे जो इन्द्रियों को सुहावना लगे और आनन्द कहते हैं उसे जो आत्मा की शक्ति समृद्धि का अनुभव होने के कारण अनाकुलतारूप परिणमन हो। इसमें सुख और दु:ख विकार परिणमन है और आनन्द स्वभाव परिणमन है। आनन्द गुण का भी नाम है और उसकी स्वाभाविक पर्याय का भी नाम है।

आनन्दगुण की वृत्ति का पर से असम्बंध—इस आनन्द गुण का सुख दु:ख रूप विकार अवस्था में परमार्थ से क्या परवस्तु के साथ कुछ सम्बंध है ? नहीं। आनन्दगुण की स्वभाव अवस्था में परवस्तु के साथ सम्बंध नहीं है, यह बात जल्दी ध्यान में आ जाती है। ठीक है, किन्तु विकार दशा में भी पर से सम्बंध नहीं है, सिद्ध भगवान अनन्त आनन्द में मग्न है, तो क्या किसी परवस्तु के लक्ष्य के कारण या विषय के कारण वह आनन्दमग्न है ? नहीं। उनके आनन्दगुण का परिणमन उनके द्रव्यत्व गुण के कारण हो रहा है। सुख और दु:ख की दशा में कुछ संदेह हो जाता है कि आत्मा परवस्तु से ही सुख लेता है और परवस्तु से ही दुःख लेता है। इस लोक में भी कहते हैं कि अमुक लड़के ने नाक में दम कर डाला। नाक में दम विपत्ति को कहते हैं। जैसे नाक के छेद में कोई चीज अड़ जाय तो दम घुटने लगता है ऐसा लोक में भी कहते हैं। और सुख के बारे में भी कहते हैं कि हमारी बहुयें तो ऐसी भली आयी हैं कि हमें कोई तकलीफ नहीं है। बेचारी बड़ी सेवा करती हैं, उनसे हमें बड़ा सुख है। ऐसा व्यवहार में भी कहते हैं ना। तो सुख और दुःख परवस्तु से आते हैं। पर से ही सुख है पर से ही दुःख है, यह बात व्यवहार में समझ में आ रही है, परन्तु निश्चयनय यह बताता है कि सुखरूप से परिणमने वाला यह आत्मा अपने आनन्द गुण के परिणमन से सुखी होता है।

आनन्द परिणतियों का मात्र व्यवहार से सम्बंधदर्शन—यह आत्मा अपने आनन्द स्वभाव से परिणमता, परवस्तु के स्वभाव से नहीं परिणमता और परविषय अपने स्वभाव से इस आत्मा को नहीं परिणमाता किन्तु अपनी परिणति से परिणमते हुए दोनों के प्रसंग में यह संसारी जीव परविषयक लक्ष्य में लेकर उसका निमित्त पाकर अपने सुख से परिणमते हुए में पर से सुखी होता है, यह अमुक विषय का सुख है ऐसा व्यवहार में कहते हैं। परमार्थ से इस आत्मा का सुखादिक के आश्रयभूत विषयों से भी सम्बंध नहीं है। विषय बहुत दूर पड़े हैं, यह बहुत दूर बैठे-बैठे सुखरूप परिणम रहा है।

आनन्द और विषय की भिन्नता के उदाहरण—जैसे देखने का जो विषय है सुहावना रूप है, सिनेमा के चित्रादिक हैं वे तो बहुत दूर बने हुए हैं, यह इतनी दूर बैठा हुआ अपने आप में उस रूप का विषय करके सुखरूप परिणम रहा है। आंखों से दिखने वाली बाहर की बात कुछ जल्दी समझ में आ गयी होगी कि हां कुछ भी तो इस रूप से सम्बंध नहीं है। तो जैसे उस चक्षु के विषयभूत रूप पदार्थों से इस आत्मा का कोई सम्बंध नहीं है सुख के प्रसंग में, इसी प्रकार चबा-चबाकर खाये हुए में लड्डू, रबड़ी से इस आत्मा का कोई सम्बंध नहीं है। इस जीव को लड्डू रबड़ी आदि से सुख मिलता हो, ऐसी बात नहीं है, यह भी आत्मप्रदेश से दूर रहने वाली बात है।

एकक्षेत्रावगाही पर का भी आनन्द में अत्यन्ताभाव—कदाचित् पर का आत्मप्रदेश में एकक्षेत्रावगाह भी हो जाय, वह लड्डू किसी तरह खाया, रस बना तो वह रूधिर आदिक रूप परिणम गया। अब शरीर के रूधिर आदिक समस्त अंगों में आत्मप्रदेश भरा पड़ा है। एकक्षेत्रावगाह है ऐसा एकक्षेत्रावगाहरूप भी परपरिणति हो तो भी वह आत्मा से बाहर है, स्वरूप में उसका प्रवेश नहीं है। कहीं स्वास्थ्य अच्छा है ना, खून बढ़ रहा है तो कहीं खून बढ़ने के कारण इस जीव का सुख परिणमन नहीं हुआ वह तो एक आश्रयभूत है, उसका विषय करके यह जीव अपनी परिणति से अपनी कला से अपने आप सुखरूप परिणमता है। इसी प्रकार अन्य शक्तियों की भी बात समझिए।

क्रियावती शक्ति की परिणति का भी पर से असम्बंध—जैसे एक क्रियावती शक्ति है। क्रियावती शक्ति के प्रताप से यह जीव गति करता है। इस देह से बँधी हुई हालत में कोई इस देह को अभी घसीट ले जाय तो देह जो चला, उसमें निमित्त वह घसीटने वाला पुरूष तो है पर यह देह अपनी क्रिया से चला और देह के चलने का निमित्त पाकर जीव भी उसके साथ चला। कहीं जीव यहां रखा नहीं रहा, फिर भी जीव में गति जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमन से है। उसमें संयुक्त पुद्गल की क्रिया निमित्तभूत है। सो व्यवहार से निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के कारण एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सम्बंध है, अथवा एक दूसरे को यों करके यों व्यावहारिक सम्बंध बताया जाय किन्तु परमार्थ से किसी द्रव्य के परिणमन का

किसी अन्य द्रव्य के परिणमन से तन्मयता का सम्बंध नहीं है।

व्यवहारभाषा का मर्मभूत अन्य अर्थ—व्यवहार में लोग कहते हैं कि यह मैंने भोजन किया, यह मैंने कांटा निकाल दिया, यह घर मैंने बनवाया, मैंने गधे को आदमी बनाया। गधे को आदमी बनाना मायने पढ़ा लिखा देना। यह सब व्यवहार कथन है। एक मास्टर साहब स्कूल में बच्चों को पढ़ा रहे थे। सो एक बच्चे को कह रहे थे कि तू तो बड़ा मूर्ख है, अभी तक तेरी समझ में नहीं आया। मैंने बीसों गधों को आदमी बनाया। तो एक कुम्हार जा रहा था। उसने सोचा कि हमारे कोई लड़का नहीं है सो एक गधे का क्यों न लड़का बनवा लें। सो मास्टर साहब से उसने विनती की कि मास्टर साहब हमारे घर में एक भी लड़का नहीं है, हम अकेले घर में। एक गधे का लड़का बना दीजिए। मास्टर ने सोचा कि अच्छा बेवकूफ आज पल्ले पड़ा। थोड़ा सोच कर बोला कि अच्छा ले आना गधा—देखो ७ वें दिन आना और ठीक ३ बजे दोपहर को आना। उसने गधा लाकर दे दिया २५-३० रू का बिका तो उससे अपना काम चलाया। अब वह देहाती, ७ वें दिन ठीक ३ बजे आ ही जाय ऐसी घड़ी तो उसके पास थी नहीं, सो बेचारा ३।। बजे आया। सो कहा महाराज अब हमारा लड़का दे दीजिए। मास्टर कहता है कि ओह तू आध घंटे बाद आया। अरे तेरा गधा तो लड़का बन चुका है, यदि आध घंटे पहिले आ जाता तो तेरा लड़का यहीं मिल जाता। अब तो वह फलां कचहरी में जज बन गया है, वहां तू जा वह कुर्सी पर बैठा हुआ फैसला करता हुआ मिलेगा। तो वह पछताता है कि यदि मैं आध घंटे पहिले आ जाता तो हमारा लड़का हमको यहीं मिल जाता, अब कहां जायें, किससे पूछें ? सोचा कि कचहरी चलें। उसी गधे का तोबरा और रस्सी लेकर वह कुम्हार कचहरी पहुंचा। जिससे कि वह लड़का इसको देखकर यह ख्याल करले कि हम इस कुम्हार के ही लड़के हैं, सो वह कचहरी के दरवाजे पर बैठ गया। उस गधे के तोबरा को दिखाकर वह बोलता है कि ओह ओह आजा मेरे पास, तू हमसे नाराज होकर यहां क्यों चला आया ? आधा घंटा ही तो हमको देर हो गयी थी। जज ने देखा कि यह कैसा मूर्ख है सो सिपाहियों से कहकर धक्के मारकर निकलवा दिया।

व्यवहारभाषा के लक्ष्य की जानकारी की आवश्यकता—तो व्यवहार में भी यह कहते हैं कि मैंने गधे को आदमी बना डाला तो क्या उसका सीधा अर्थ यह लेना है कि हां बन जाता है। व्यवहार भाषा में बोलने का लक्ष्य किस बात पर है ? यह ध्यान में आए बिना व्यवहार की बात गलत हो जायगी। तो यद्यपि परवस्तुओं के प्रति व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि मैंने घर बनाया, मैंने कांटा निकाला, मैंने भोजन बनाया, मैंने अमुक को पढ़ाया, लेकिन निश्चय से देखा जाय तो मैंने तो रागादिक परिणाम ही किया। न मैंने किसी को पढ़ाया, न मैंने भोजन बनाया, न मैंने घर वगैरह बनाया, यह एक मोटी सी बात है। जैसे कोई कहता हो कि मैंने अमुक परद्रव्य को जाना तो उसका अर्थ लगावो कि क्या यह परद्रव्य में तन्मय होकर जानता है ? नहीं। इस कारण से निश्चय से पर को नहीं जाना।

व्यवहार से सर्वज्ञता का अर्थ—कोई शंका करता है कि यदि भगवान भी परद्रव्य को व्यवहार से जानता है तो फिर वह भी व्यवहार से सर्वज्ञ हुए, निश्चय से तो सर्वज्ञ नहीं रहे। उत्तर में यह जानना कि

भाई उसका अर्थ यह लगाना कि परद्रव्य के सम्बंध में जानकारी तो हुई यह बात तो असत्य नहीं है किन्तु परद्रव्य में तन्मय होकर नहीं जानते, किन्तु वे अपने आपके ज्ञानपरिणमन में ही तन्मय होकर जानते हैं। जैसे कोई मनुष्य पर के सुख को जानता है, यह बड़ा सुखी है, तो क्या वह दूसरे के सुख में तन्मय होता हुआ जानता है ? नहीं। दूसरे के सुख के बारे में जानता है। दूसरे के सुख में तन्मय होकर नहीं जानता है।

भैया ! और भी देखो जब अपने बुखार आता है १०२ डिग्री बुखार मानो आया तो आपको बुखार का ज्ञान हुआ। एक तो यह ज्ञान हुआ और दूसरे जब आप स्वस्थ हो गए, अब भाई को बुखार आया तो उसको भी १०२ डिग्री बुखार है। सो थर्मामीटर लगाकर देख रहा है ओह भाई के भी १०२ डिग्री बुखार है। तो एक तो अपने बुखार का ज्ञान था और अब भाई के बुखार का ज्ञान हो रहा है। इन दोनों ज्ञानों में कुछ अन्तर है या नहीं ? अन्तर है। अपने बुखार की वेदना को तो तन्मय होकर जानता था और भाई के बुखार की वेदना को तन्मय होकर नहीं जानता है। अगर तन्मय होकर जानने लगे तो फिर दोनों की दवाई होगी तब बुखार मिटेगा। होता भी है क्या ऐसा ? कोई बीमार हो जाय और उसे कड़वी दवा दे डॉक्टर तो वह बीमार पुरूष कहे कि डॉक्टर साहब यह दवा तो हमसे नहीं पी जाती है आप पी लो तो क्या ऐसा भी कोई कहता हैं या उसके कहने से डॉक्टर दवा पी लेता है ? परपदार्थ का जो सम्वेदन होता है वह व्यवहार का सम्वेदन कहलाता है क्योंकि पर में तन्मय होकर सम्वेदन रूप परिणमन नहीं होता। यदि दूसरे के सुख को अपने सुख की तरह तन्मय होकर जाने तो जैसे अपने सुख के सम्वेदन में यह जीव सुखी होता है इस प्रकार पर के सुख के सम्वेदन से भी सुखी हो जाय और पर के दुःख के ज्ञान में यह दुःखी हो जाय किन्तु ऐसा नहीं है। तो जैसे यह अपने सम्वेदन की बात तो निश्चय है और दूसरे के सुख की ज्ञान की बात व्यवहार से है, इस तरह सभी आत्मावों को अपने ज्ञान के परिणमन की तन्मयता की बात तो निश्चय से है और पर का ज्ञान होते हुए भी पर का ज्ञान व्यवहार से यों कहलाता है कि परपदार्थ तन्मय होकर नहीं जानते। यों तो निरंशवादी भी कहते हैं कि ज्ञाननिश्चय से अपने को जानता है और व्यवहार से पर को जानता है। यही बात जैन लोग कहते हैं, यही बात बौद्ध भी कहते हैं। किन्तु निरंशवादियों के यहां व्यवहार को जानना व्यवहार से भी सत्य नहीं है ऐसा कहते हैं। उसे भ्रम बताते हैं किन्तु यहां ऐसी बात नहीं है कि परपदार्थ के बारे में जानकारी हुई तो वह भ्रम हो गया, भ्रम वाली बात नहीं है। यह व्यवहार रूप से व्यवहार की बात सत्य है और निरंशवाद में व्यवहार की बात सर्वथा झूठ है, केवल भ्रममात्र है। यही अन्तर है। यदि व्यवहार की जानकारी मात्र होती तो भगवान व्यवहार से सर्वज्ञ हैं इस का अर्थ यह लगाते कि वास्तव में वे सर्वज्ञ नहीं हैं ? किन्तु ऐसा तो नहीं है। व्यवहार की बात भ्रमरूप नहीं है। व्यवहार व्यवहाररूप से सत्य है इस कारण भगवान वास्तव में सर्वज्ञ है किन्तु सर्वज्ञपने का निर्णय व्यवहार दृष्टि से होता है और आत्मज्ञता का निर्णय निश्चयदृष्टि से होता है। यदि व्यवहार की

अपेक्षा भी पर का जानना सत्य नहीं रहा तो फिर सारे लौकिक व्यवहार मिथ्या हो जायेंगे। सो तो मानते नहीं। अगर मान लें तो बड़ी विपत्तियां और विडम्बनाएँ बन जायें, सब पागलों जैसी बातें करने लगें। हमने तुम्हें कहां देखा ? आप कौन हैं, हम नहीं जानते हैं यों खूब परिचित पुरूषों के प्रति बातें बोलकर उल्लू बनाया जा सकता है अगर व्यवहार की बात मिथ्या मान ली जाय तो। ऐसी ही एक घटना हुई है। जब हम ८-९ वर्ष के थे हमारे पिता जी गुजर गए थे। बाद में माँ ने सब काम सँभाला। ९-१० गाँवों का लेनदेन था, खेतीबाड़ी थी। जब हम २० वर्ष के हो गये तो ओर्छा के राजा को प्रार्थना पत्र दिया कि हमारी नाबालिक अवस्था थी अभी तक। अब हम सम्भल गए हैं, इसलिए १४ वर्ष के जो ऋण है, रूक्के हैं उनकी म्याद मानी जाय और हमको अधिकार दिया जाय कि हम उन पर नालिश कर सकें। पर एक बार पेशी में गये, वहां अनुकूल उत्तर मिल गया कि तुम्हें अधिकार है कि तुम १४ वर्ष के पुराने रूक्कों को वसूल कर सकते हो। अब बहुत सोचा हम कि नालिश करें या न करें। तो १२-१३ वर्ष का पुराना एक ऋण था। था तो वह ३९९ रू का रूक्का। पहिले जमाने में १) कम या १) ज्यादा दिया जाता था। वहां व्यवहार लगाया तो हो गए हज़ारों। हज़ारों रुपयों की नालिश का रूक्का बनवाया, एक वकील किया। उसको भी कुछ भेंट किया जो कुछ देना था। अब वह वकील ओर्छा से बदल कर टीकमगढ़ पहुंचा। किसी तरह मैं उसके पास गया। उससे मैंने कहा कि वकील साहब बही हमारी कहां है ? तो बोले कि आप कौन हैं, कहां से आए हैं, वे ऐसा बोलने लगें कि मानो हमें जानते ही न हों। मैं वहां से सीधे उठकर घर चला आया। मैंने सोचा कि यह अभी और कुछ खाने को माँगते हैं इसलिए ऐसा करते हैं। तो अगर यह व्यवहार मिथ्या हो जाय तो कल तक तो हमारा आपसे परिचय था और आप बोलें कि आप कौन हैं ? कहां से आप आए हैं ? यदि ऐसा हो जाय तो सारे लोक में पागलपन सा छा जायेगा। व्यवहार की बात व्यवहार के रूप में सत्य है। इस बुनियादी जैन सिद्धान्त में व्यवहार की सर्वज्ञता है किन्तु निरंशवादों के यहां व्यवहार से जानी हुई बात को यों कहते हैं कि जो कोई नींद में स्वप्न में कुछ वस्तु देखे तो वह कोरा भ्रम है, अथवा मैं पर को नहीं जानता। इसी प्रकार सविकल्प अवस्था में व्यवहार को जो कुछ जाना जा रहा है वह सब पूर्ण मिथ्या है, भ्रम है, ऐसा निरंशवाद में कहते हैं, जैन सिद्धान्त में नहीं है। इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध किया है कि आत्मा की सब वृत्तियों का आत्मा के साथ सम्बंध है पर के साथ सम्बंध की बात व्यवहार दृष्टि से विविक्त होती है।

नय नयन के प्रणयन का निष्कर्ष—निश्चय और व्यवहारनय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र के सम्बंध में विनिश्चय बताकर अब उसके शिक्षारूप में क्या ग्रहण करना है, ज्ञानी जीव उससे क्या शिक्षा पाता है ? इस पर कुछ दृष्टिपात किया जा रहा है। जिन पुरूषों ने शुद्ध द्रव्य के अवलोकन में बुद्धि लगाई है और ऐसी स्थिति में जो उन्हें तत्त्व दिखता है वे पुरूष केवल एक शुद्ध स्वरूप को ही निरख रहे हैं। उनकी दृष्टि में कोई दूसरा द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य में भी नहीं करता है। फिर भी ज्ञान ज्ञेय को जानता तो है। यह सब ज्ञान के स्वभाव का उदय है, वह ज्ञान से सब कुछ जानता है। जैसे दर्पण में सामने की चीज प्रतिभासित

हो गयी हो, फिर भी दर्पण का उस परवस्तु में प्रवेश रंच भी नहीं है। द्रव्य जो परद्रव्य के आकाररूप प्रतिभास गया है यह दर्पण की स्वच्छता का प्रताप है किन्तु उसमें परद्रव्य प्रवेश कर गया हो यह रंच बात नहीं है। इस ही प्रकार इस ज्ञानतत्त्व में कोई परज्ञेय प्रवेश कर गया हो यह रंच बात नहीं है। यह तो ज्ञान के स्वभाव की ही कला है जो ज्ञान ज्ञेय को जानता है। कोई इस मर्म को जाने तो उसमें पर का प्रवेश नहीं। कोई इस मर्म को न जाने तो उसमें भी पर का प्रवेश नहीं है।

तत्त्व से व्यर्थ च्युत होने का खेद—अहो जब परपदार्थ से अत्यन्त विविक्त यह ज्ञानतत्त्व है तो जगत ये जीवलोक क्यों अन्य द्रव्यों की ओर बुद्धि लगाकर इस तत्त्व से च्युत हो रहे है ? चीज जो है सो है, माना

जाय तो पार हो जायेगा, न माना गया तो संसार में रूलेगा। किसी के सोचने से वस्तुस्वरूप अन्य प्रकार नहीं हो सकता है। जब इस आत्मा का परपदार्थ को जानने देखने त्यागने और श्रद्धान करने तक का भी सम्बंध नहीं है, यह जीव स्वयं के ही ज्ञानरूप, दर्शनरूप, त्यागरूप, चारित्ररूप, श्रद्धानरूप परिणमाता है। जब गुणवृत्ति का पर से सम्बंध नहीं है तो पर का कर्ता मानना भोक्ता मानना यह तो कितनी बड़ी भारी भूल है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही शुद्ध स्वभाव से हुआ करता है। द्रव्य का जो निजभाव है वही द्रव्य का स्वभाव है। द्रव्य अपने स्वभाव से ही हुआ करता है। क्या स्वभाव का कोई अन्य द्रव्य कुछ लगता है अथवा किसी अन्य द्रव्य का यह स्वभाव कुछ होता है ? कोई सम्बंध नहीं है।

एक दूसरे के परस्पर असम्बंध में एक लोक दृष्टांत—इसे एक लोक दृष्टांत से समझिये कि जैसे चाँदनी छिटक रही है तो यह चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल कर रही है फिर भी पृथ्वी चाँदनी की कुछ नहीं हुई। चाँदनी पृथ्वी की कुछ नहीं हुई। इसी प्रकार यह ज्ञान ज्ञेय पदार्थ को सदा जानता रहता है तो भी ज्ञेय ज्ञान का नहीं हो जाता, ज्ञान ज्ञेय का नहीं हो जाता। जैसे धन के लोभी पुरूष इस बात पर बड़ी रिस करते हैं कि हाय यह धन मरने पर क्यों साथ नहीं जाता। कमाने पर भरोसा हैं ना। जोड़ते हैं, और जानते हैं कि लक्ष्मी का आना हमारे बांयें हाथ का खेल है। सो अरबपति भी इस बात पर गुस्सा रख रहे हैं कि मेरे पास तो अरबों की सम्पत्ति है। मरने पर यह कुछ भी साथ क्यों नहीं जाती ? इसी तरह रागी लोग, आसक्त लोग दूसरे प्राणी के प्रति ऐसी रिस रखते हैं, क्रोध रखते हैं कि हमारा तो इतना तीव्र अनुराग है पर हम और ये एक क्यों नहीं बन जाते ? दो क्यों बने हुए हैं ? कोई बड़ा प्रभावी है, बड़े बड़े मकानों को बना देने में दिनों या महीने का ही मेरा काम है, इस भ्रम से यह कर्तापन और भोक्तापन का भूत इसके सिर पर लदा हुआ बना रहता है किन्तु कोई कैसे ही प्रवर्तो, वस्तु का स्वभाव तो कभी बदला नहीं जा सकता।

ज्ञान के वृत्ति की अनिवार्यता—भैया ! ज्ञान ज्ञेय को जानता है। इस तरह ज्ञेय का ज्ञान के साथ और ज्ञान का ज्ञेय के साथ कुछ सम्बंध नहीं हो जाता। किन्तु यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। यह कुछ क्षण गम खाये, न जाने कुछ, ऐसा नहीं हो पाता। क्या करें विवश है यह ज्ञान। यह चाहे भी कि मेरे

ज्ञान में कुछ न आये तो भी क्या होगा ? क्या है कोई ऐसा प्रसंग कि यह ज्ञान ज्ञानकार्य को छोड़कर रहता हो। पुरूष बेहोश हो जाता है। ऐसी स्थिति में बाहरी लोग जानते हैं कि इसका ज्ञान काम नहीं कर रहा है, पर ऐसा नहीं है। किसी भी रूप में करे, ज्ञान निरंतर कार्य कर रहा है। यह उसका स्वभाव है। जैसे दर्पण परपदार्थ को झलकाये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता है, ट्रंक में धर दोगे तो ट्रंक के पड़ले को झलका देगा, कपड़े में रख दोगे तो कपड़े को झलका देगा। कहीं ले जावो दर्पण को, उसमें परपदार्थ भव्य प्रतिभासित हो जायेगा। इसी तरह ज्ञान का क्या बनाओगे जिससे ज्ञान में ज्ञेय प्रतिभासित न हो।

निर्विकल्प समाधि में भी ज्ञानवृत्ति की निरन्तरता—छद्मस्थपुरूष निर्विकल्प समाधि के समय अन्य सब चिंतावों को रोक देते हैं। समस्त पर के विकल्प दूर हो जाते हैं। तो वह निर्विकल्प ज्ञान क्या सचमुच में किसी भी ज्ञेय को नहीं प्रतिभास रहा है, ऐसा नहीं हो सकता। पर ज्ञेय नहीं प्रतिभासता तो आत्मा ही ज्ञेय हो रहा है और ज्ञान के विषय में आत्मा आता है तो ज्ञान का विकल्प करते हुए आता है। रागद्वेष के विकल्प की बात नहीं कह रहे हैं। जैसे हम धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदिक के सम्बंध में कुछ जानते हैं तो जैसे वहां अर्थग्रहणरूप विकल्प है इसी तरह ज्ञान द्वारा जब हम केवल शुद्ध सहज स्वभावमय आत्मा को जानते हैं तो वहां आत्मग्रहणरूप विकल्प होता है। यह जाने बिना कैसे कभी रह सकता है ? मैं ज्ञानमात्र हूँ, जानन बना रहना इसका कार्य है। इसके अतिरिक्त और कोई सम्बंध तो नहीं है इस दुनिया से। इस वस्तुमर्म की बात जब उपयोग में नहीं रहती तब यह जीव दीन हीन भिखारी होता हुआ परद्रव्य के संचय में, स्पर्श में, भोग में अपनी बुद्धि बसाये रहता है। सो इन वृत्तियों के कारण यह जन्ममरण लम्बा बनाता रहेगा।

ज्ञानदृष्टि का महापुरूषार्थ—भैया ! यदि जन्ममरण के चक्कर से दूर होना है तो अंत: ज्ञानदृष्टिरूप महापुरूषार्थ करना होगा। मोह बड़ा सस्ता लग रहा है पर यह बहुत महंगा पड़ता है। पुण्य का उदय है घर में सर्वसुख साधन है। घर के चार प्राणियों के साथ खाना पीना, राग करना, उनका पालना पोषना एकदम कितना सस्ता लग रहा है ? धर्म की बात ज्ञान की बात तो सुनने में भी ऊब जाते हैं। कितना समय हो गया, अभी कब तक बोला जायेगा। पर मोह करने की बात इसे बड़ी सुगम हो जाती है। कदाचित् दौड़ता हुआ लड़का पास आ जाय तो शास्त्र सुनने की बात गौण हो जायेगी और उसे पकड़कर गोद में बैठा लेने की बात मुख्य हो जायेगी। कितना सस्ता यह मोह लग रहा है, पर यहां से मरकर कीड़ा मकोड़ा हो जाय, पशु पक्षी हो जाय, अब कहां गये तुम्हारे बाल बच्चे, कहां गयी हवेली, कहां गया वह वैभव। वस्तुमर्म का परिज्ञान होना यही है सबसे बड़ा भारी सुभवितव्य।

ज्ञानविशुद्धि के यत्न की करणीयता—भैया ! यह राग और द्वेष तब तक उदित होता है, जब तक यह ज्ञान, ज्ञानरूप नहीं बनता और ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं बनता, तभी तक राग और द्वेष का नृत्य चलता रहता है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल जाननस्वरूप परिणमता हूँ। इस मुझ आत्मतत्त्व का अन्य द्रव्य के साथ रंच भी

सम्बंध नहीं है। यह ही जीव मूढ़ बनकर परवस्तु के सम्बंध में विकल्प बनाकर खुद दुःखी होता है। दूसरा कोई दुःखी करने में समर्थ नहीं है। ज्ञान को ज्ञानरूप बनावो और ज्ञेय को ज्ञेय ही रहने दो तो रागद्वेष का चक्र समाप्त होगा। इस वर्तमान स्थिति में अज्ञान भाव वर्त रहा है तो इस अज्ञानभाव का तिरोभाव करके ज्ञानरूप परिणमन बनाओ। जो चीज इस समय है उसको दूर करो और जो अभाव है उसको दूर करो। भाव तो अज्ञान का है उसे दूर करो और अभाव ज्ञान का है सो ज्ञान के अभाव को दूर करो। जिससे यह पूर्ण स्वभाव ज्ञायक आत्मतत्त्व प्रकट हो। इसी तैयारी के लिए कुन्दकुन्दाचार्य अब अगली गाथा में कहते हैं।

गाथा 366

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थिहु अचेयणे विसये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसयेसु।।३६६।।

हितसम्बोधन—पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव जीव को ऐसी आत्मीयता के साथ समझा रहे हैं, एक जीवतत्त्व के नाते से, जगत् के जीवों को बंधु समझ कर, कैसी अनुराग भरी दृष्टि से समझा रहे हैं जैसे कि लोक में जिसने बहुत-बहुत रक्षा की हो, किसी बंधु की रिश्तेदारी की और वह आत्मीयता से कुछ बात कहे, तो दूसरा भी आत्मीयता के भाव से सुनता है। यों ही आचार्यदेव करूणा करके कह रहे हैं तो सुनने वाले इस दृष्टि के साथ सुनने लगते हैं कि हमारे आचार्यदेव जो कह रहे हैं वह सब हमारे भले की है। आचार्य देव कहते हैं कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र तेरा कुछ भी तो नहीं है इन अचेतन विषयों में। फिर इन अचेतन विषयों में सिर पटक कर क्यों अपना घात करते हो ? अथवा जब इन अचेतन विषयों से तेरे गुण का कोई सम्बंध नहीं है तो अचेतन विषयों का संग्रह विग्रह संचय विनाश की बुद्धि क्यों बनी है ? क्या विषयों के संग्रह से दर्शन ज्ञान चारित्र में वृद्धि हो जायेगी या इसका विनाश कर देने से कुछ अपने गुणों का विकास हो जायेगा। अरे इन विषयों के कारण तू अपना घात क्यों किए जा रहा है ? ''भोगे तो भोग क्या है, भोगों ने भोगा हमको।''

विषयों का संक्षिप्त विवरण—भैया ! विषय हैं ५, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द और इसके अतिरिक्त एक विषय है मन का। वह क्या है ? ऊटपटाँग कल्पनाएँ। इन विषयों में ही तो यह जीव अपनी रोक कर रहा है। यह जीव और कर क्या रहा है सुबह से शाम तक अथवा दूसरी सुबह तक, सिवाय ६ प्रकार के विषयों की धुनि के और यह जीव करता क्या है ? जिसकी जितनी बुद्धि है, जितना जिसका विकास है वह इन्हीं विषयों में रम रहा है। खाना, पीना, कमाना, धरना और आगे। चलो तो लड़ना भिड़ना

अथवा रागद्वेष करना वे सब हैं विषयों के आधार पर। इन विषयों में लगाकर केवल अपना घात किया जा रहा है। यह घात विषयों में लगने से नहीं हो रहा है किन्तु विषयों को लक्ष्य बनाकर अपने गुणों के विकार परिणमन करने से हो रहा है।

विषयों का आत्मा में अप्रवेश—भैया ! परमार्थ से देखो विषय आत्मा में क्या लग जाते हैं ? भोजन में शब्दादिकों में क्या उपयोग प्रवेश करता है ? ये विषय बाहर ही बाहर लोटते हैं और यह उपयोग अपने आप में गुड़गुड़ाकर दुःखी होता रहता है। जैसे कोई पड़ौस की दो स्त्रियों में लड़ाई हो जाय तो वे स्त्रियां अपने अपने दरवाजे पर खड़े खड़े एक पैर देहरी से बाहर और एक पैर भीतर रखे, देहरी को दोनों पैरों के बीच रखे खड़े खड़े हाथ पसार-पसारकर तेज ग़ुस्से से इस तरह से गालियां और क्रोध भरी बातें करती हैं कि लोगों को ऐसा लगता है कि कहीं से कुश्ती न खेल जायें और एक दूसरे को पीन न डालें। अरे कुश्ती तो दूर रही वे तो देहरी के भीतर का भी पैर बाहर नहीं रख रही हैं, अपने ही दरवाजे पर खड़ी-खड़ी तेज ग़ुस्से से गालियां दे रही हैं। यह एक मोटी बात कह रहे हैं। इसी तरह परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंधवश कुछ भी परिणमन हो रहा हो किन्तु प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप के भीतर ही पैर जमाए हुए परिणम रहे हैं। रंच भी तो बाहर नहीं उठते।

परपदार्थ की अत्यन्त विविक्तता--यह समस्त वैभव जिसके पीछे आज जगत अंधा हो रहा है, अपना आत्मबल बरबाद किए जा रहा है इन विषयों में हे आत्मन् ! क्यों अपना घात करते हो ? उनमें रखा क्या है तेरा ? पड़े हैं ये बाह्य पदार्थ। आज जिस मकान में तू रहता है कदाचित् किसी कारण बेच दे—गरज के कारण अथवा बहुत मकान हैं तो क्या करेगा, किसी कारण बेच दिया जाय तो फिर उस मकान की ओर तेरी रागदृष्टि फिर रहती है क्या ? मकान तो वही है, पत्थर तो वही है, ढांचा वही है, तो मालूम देता है कि मकान में तेरा कुछ न था। जब भी मकान था अब भी मकान है। तू तो परपदार्थों को लक्ष्य में लेकर केवल अपने उपयोग परिणमन को कर रहा है। आज जिसको तुम अपना लड़का समझते हो, मरकर वही पड़ोस में पैदा हो जाय तो बड़ा हो जाने पर क्या आप उसे अपना समझते हो ? नहीं समझते। अथवा तुम्हारा ही लड़का गुजर कर पड़ोस में क्या जिठानी के भी बच्चा हो जाय तो क्या वह जिठानी उसे अपना समझती है ? नहीं। पर वही तो बच्चा है, मरकर जिठानी के हो गया।

अचेतन विषयों में आत्मा के गुणादिक का अभाव—भैया ! किसी में कुछ नहीं हैं तेरा। तू तो अपने राग के बेसमझे प्रभाव में बहा बहा जो सामने आता है जिस पर प्रीति उत्पन्न होती है उसे ही अपना समझने लगता है। इन अचेतन विषयों में न तेरा दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है। फिर भी इन विषयों में पड़कर तू अपना घात क्यों करता है ? वर्तमान में बहुत मीठा लग रहा हैं—घर में रहना, घर वालों से राग करना, मस्त रहना, किसी के पीछे दूसरे से विद्रोह कर लेना, ये सारी बातें आसान लग रही हैं।

किन्तु फल क्या होता है सो बहुतों को तो आंखों देखा है। अभी कल परसों तक नेहरू का उपयोग, उस आत्मा का उपयोग इस भारत के साथ था, अब जहां भी होंगे वहां भारत का कुछ होगा क्या उनके साथ ? कदाचित् मर कर उन देशों में पैदा हो जाये जिनका विरोध करते थे तो बड़े होने पर उनका क्या उपयोग बनेगा ? तो खुद सोच लो। यही हैं संसार की गति। इन अचेतन विषयों में हे आत्मन् ! तेरा कुछ नहीं है। तू इन विषयों में क्यों अपना घात करता है ?

व्यामोह में सुगम की कठिनता व कठिन की सुगमता—ये विषय तो सब जड़स्वरूप है। तू आत्मा चैतन्यस्वरूप है। तेरा इन जड़ विषयों में क्या रखा है ? कुछ भी तो नहीं है। फिर उन विषयों के खातिर क्यों घात करता है ? देखो भोग भोगना बड़ा आसान, भोग तजना शूरों का काम। राग करना बड़ा आसान लग रहा है, पर सद्बुद्धि जगे, स्वभाव दृष्टि बने, अपने आपमें अपना सत्य पुरूषार्थ जगे, यह बात इस जीव को कठिन लग रही है। जो स्वाधीन है, परद्रव्य की अपेक्षा से रहित है, जिस साधना में किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है वह तो इस मोही जीव को लगता है कठिन और जिसमें चूल्हा लकड़ी, पैसा सब कुछ जुटाने पड़ते हैं, मकान दुकान आदि आरम्भ करने पड़ते हैं वह काम इसे लग रहा है सरल। देखो तो भैया ! खुद की खुद को लग रहा है कठिन। इस अज्ञानभाव का विलय करें तब ही शांति प्राप्त हो सकेगी।

अध्रुव के व्यामोह की अत्यंत हेयता—यह सर्वसमागम चंद दिन का है। रहेगा कुछ नहीं। मुट्ठी बांधकर आए हैं और हाथ पसार कर जायेंगे। इतना भी नहीं है कि मुट्ठी बांधकर जायें। जो परभव से कमाकर लाए हैं, मुट्ठी बांधकर आए हैं वह सब खोकर हाथ पसार कर जायेंगे। जब कुछ रहना ही नहीं है इन बाह्य वस्तुवों में से तो इन बाह्य वस्तुवों में क्यों दिल फँसाकर समय बरबाद करें ? आत्मा का ही कोई काम ऐसा कर जावो जो आगे भी साथ देगा। ये अचेतन विषय दुर्गति के कारण हैं, पाप के बीज हैं, अस्थिरता को उत्पन्न करने वाले हैं। इन विषयों के खातिर अपने आप की ऐसी अनन्त प्रभुता को खो दिया यह मिथ्यात्व का ही काम है।

सुगम सत्य साधना—आनन्दनिधान ज्ञानज्योतिर्मय इस आत्मप्रभु की दृष्टि न होने पर यह जीव कैसा बेतहासा पर की ओर झुककर दुःखी होता है, इस तथ्य को भी नहीं देख जान सकते हैं। जो ज्ञानी पुरूष हैं। वे ही जगत के क्लेशों का सच्चा ज्ञान कर पाते हैं। दुःखी होते जा रहें हैं और खुद के ही दुःख का असली पता नहीं पड़ता। यह है अज्ञानी की अवस्था। तीर्थंकरदेव जिसने जब तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया तब यही भावना तो भायी थी कि अहो जगत के ये प्राणी केवल भ्रम में व्यर्थ ही क्लेश पा रहे हैं। थोड़ा ही तो काम करना है, ये अन्तर से अपने ज्ञानपरिणमन को बहिर्मुख करके जान रहे हैं, ऐसा न देख करके अन्तर्मुख होकर जानना है।

मुक्ति का सुगम मोड़ और तीर्थंकर की भावना—एक खड़ा हुआ पुरूष पश्चिम दिशा को मुँह करके देख रहा है, थोड़ा घूमकर पूरब को मुँह करना है तो ऐसा करने में उसे कठिनाई ही क्या पड़ती है ? कुछ

भी तो कठिनाई नहीं पड़ती है या बैठे-बैठे ही उत्तर को अभी देखना है तो जरा गर्दन हिलाकर थोड़ा उत्तर को मुँह करना है तो उसमें कौनसी अधिक मेहनत पड़ती है ? इसी तरह अपने आपके ही स्वरूप में पड़ा हुआ यह आत्मा कुछ बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि करके तक रहा है। बस उस बाह्य की ओर दृष्टि नहीं करना है, केवल अपनी ओर ही तो दृष्टि करना है। इतना कार्य कितना कठिन लग रहा है जगत के जीवों को, इसकी दृष्टि जगह और संसार के संकट मिटें ऐसी भावना तीर्थंकर में हुई थी। ऐसी भावना नहीं हुई थी कि मैं इन जीवों को पकड़-पकड़कर संसार से उठाकर मोक्ष में पहुंचा दूं। ऐसी कोई कर्तृत्व के आशय वाली बुद्धि नहीं जगी थी। जो महंतपुरूष होते हैं वे लोग वचनों में भी ऐसा नहीं कहा करते है कि मैं ऐसा कर दूंगा, मैं ऐसा कर सकता हूँ। यह तो थोड़ा जानने वाले ही छाती ठोंककर कहा करते हैं।

विषयों के प्रसंग का विपाक केवल पछतावा—हे आत्मन् ! जिन विषयभोगों में तू दौड़ लगा रहा है, उनमें रम-रम कर आखिर तू पायेगा क्या सो तो बता। अब तक मानों कि जैसे ६० वर्ष की उमर है तो कभी छटांक भर खाया, कभी तीन पावा खाया, तो आध सेर का ही अनुपात लगा लो, तो १ माह में हो गए १५ सेर और एक साल में हो गए ४।। मन और ६० साल में कितने हो गए सो जोड़ लो। पूरी एक वैगन भर जायेगी। इतना तो खा डाला फिर भी अभी पेट में देखो तो वे ही चूहे लड़ रहे हैं। कुछ दिखता ही नहीं हैं। खैर यह तो जीने के सवाल वाली बात है। भोगों की बात तो देखो। कितने ही सुगंधित तेलों को सूँघ डाला, पर उसमें मिला क्या ? गंध लेना, सुगंध लेना ये नासिका के फायदे की चीजें नहीं हैं। आंखों को फाड़-फाड़कर सुहावना रंग रूप देख लिया तो उससे क्या मिल गया ? समय ही गुजर गया पर हाथ कुछ भी नहीं आया। पांचों इन्द्रियों के भोगों में यह बेहतासा होकर लगा फिरा, अंत में पाया क्या ? बस पछतावा ही हाथ लगा।

व्यर्थ का श्रम—जिनको हम गैर समझते हैं उन बेचारों के द्वारा मुझे कोई नुकसान होता नहीं और जिन्हें हम अपना समझते हैं उनके लक्ष्य से, उनकी प्रीति से, उनके मोह से यहां देखो तो बरबादी हो रही है। हे आत्मन् ! तेरा दर्शन, ज्ञान, चारित्र कुछ भी तो नहीं है, अचेतन विषयों में तू उन अचेतन विषयों का क्यों संग्रह विग्रह करता है ? प्रेम में जिससे प्रेम करे उसकी बरबादी है और जो प्रेम करे उसकी बरबादी है। आपको चाहिए गोलमटोल लड्डू। आपका बूँदी के लड्डूवों से प्रेम हो गया, तो अब बतावो लड्डूवों का क्या हाल होगा ? कुचले जायेंगे, उनकी दुर्दशा होगी। और उस खाने वाले का क्या होगा ? उसकी भी दुर्दशा होगी। उसके भी पेट दर्द करेगा, पड़ा रहेगा या उनके खाने की तृष्णा बन जायेगी। दूसरे दिन ललचायेगा। और फिर उनके प्राप्त करने की आकुलता करेगा। क्या मिला जिससे प्रेम किया, क्या मिला जिसने प्रेम किया ? घर गृहस्थी और होती क्या है ? रात दिन उसमें अनेक तरह के क्लेश रहते हैं। सभी को रोग शोक लगा है, दूसरों का संयोग वियोग लगा हैं। हैं खाली प्रत्येक जीव अपने स्वरूपमात्र, दूसरों से उनका लगता कुछ नहीं है, किन्तु मोहवश यह जीव पर की ओर दृष्टि लगा कर बेचैन होता है।

आचार्यदेव समझाते हैं कि हे आत्मन् ! इन विषयों में पड़कर तू अपना क्यों घात करता है ? तू

अपने आपका जो निरन्तर घात कर रहा है उसको नहीं देखता। उस घात से तू बच। ये रागद्वेष तब तक ही उदित होते हैं जब तब ज्ञान-ज्ञानरूप नहीं हो जाता, ज्ञेय-ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। जब कोई बड़ा विवाद और समस्या उलझ जाय तो कहते हैं कि लो भाई हो चुकी, अब तुम तुम हो, हम-हम हैं। अब कोई झगड़े की बात नहीं है। और झगड़े की बात तो तब तक थी जब तक यह भाव था कि हम तुम्हारे कुछ बने, तुम हमारे कुछ बने। हे आत्मन् ! अपने चित्त में जो रागद्वेष हो रहा है उनका घात करना चाहिए, तू विषयों में पड़कर अपना घात क्यों करता है अथवा कोई तत्त्व से अपरिचित पुरूष इन विषयों को दुखदायी समझकर इनका घात करे, इनका त्याग करे, यह अच्छी बात है, मगर ये विषय उसके लिए दुःखदायी है, क्योंकि उसका त्याग ज्ञान से भरा हुआ नहीं है। इन विषयभोगों से परे हो जाना चाहिए और अपनी संभाल में लगना चाहिए। इस आशय से त्याग किया जाता है वह तो है पद्धति का त्याग और जैसे किसी से लड़ाई हो तो त्याग कर विदेश भाग जाय तो जैसे उसके घर छोड़ने का कारण रोष है, इसी तरह त्याग के मर्म से अपरिचित पुरूष के बाह्य पदार्थों के त्याग का कारण या तो रोष होता है या चाह होती है या आराम से जिन्दगी गुजारें, यह परिणाम होता है।

भैया ! जब सही पद्धतियों से कदम नहीं रखा जाता है तो फिर जीवन में अनेक विडम्बनाएँ आती हैं। सो रात दिन कल्पनाएँ करके दुःखी होते हैं। जैसे मान लो अपने यश प्रतिष्ठा के लिए त्याग किया तो त्याग तो कर दिया अब मनचाही बात न हुई, प्रतिष्ठा न मिली, अपनी पोजीशन बनती न देख सके तो रात दिन दुःखी ही होंगे। मान लो रूठ करके यह चला आया, लड़ाई हुई घर में, लो अब हम भये जाते हैं त्यागी और स्त्री अगर बड़े दिल की हो तो कहे कि अच्छा हो जावो त्यागी और हो भी गए त्यागी तो वह त्याग तो वैराग्यपूर्ण था नहीं, सो फिर कल्पनाएँ जगती हैं। सो बाह्य पदार्थों के संग्रह विग्रह में ही अपना श्रेय मत मानो किन्तु चित्त में जो रागद्वेष का परिणमन बसता है उसका त्याग करो।

ज्ञानसमान जगत में आनन्द का कारण अन्य कुछ नहीं है। पहिले यही ज्ञान करो कि इस पर्यायरूप में उपस्थित हुआ यह मैं सच हूँ, कुछ परमार्थ रूप हूँ, यह भी मिट जाने वाला है और जिन जीवों में हम कुछ पोजीशन की बात रखना चाहते हैं वे सब भी मिट जाने वाले हैं। एक अनित्य पुरूष अनित्य पुरूष में अनित्य वस्तु की चाह करता है जो कि स्वयं अनित्य है, कितनी विडम्बना की बात है, सारभूत रंच नहीं है।

लोमड़ी अंगूर के गुच्छों को नहीं छू सकती तो यह कहकर भागती है कि अंगूर खट्टे हैं। ये मोही जीव भी इस निर्विकल्प अनाकुल सहज ज्ञानरूप ब्रह्मस्वरूप का स्पर्श नहीं कर पाते हैं, सो इस आत्महित की बात को बिगड़े दिमाग वालों की करतूत कहकर अलग हो जाते है। देखो, रीति ही ऐसी है—मोही मोहियों में ही घुल-मिलकर चैन पाते हैं, अज्ञानी अज्ञानियों के ही संग में रहकर चैन पाते हैं। अच्छा बतावो, यहां जो बहुत से कबूतर फिर रहे हैं, उनसे तो आदमी अच्छे हैं कि नहीं ? अच्छे हैं। कबूतरों से

कहो कि अरे कबूतरों ! तुम अपनी-अपनी गोष्ठी में घुसे रहते हो, हमारे संग में आकर बैठो करो, क्योंकि हम तुमसे अच्छे हैं। वे हमारे पास आकर नहीं बैठेंगे, वे तो अपनी ही गोष्ठी में बैठेंगे। जो जिस पर्याय में है, उसको उसी पर्याय की बिरादरी अच्छी है। जब तक जगत् के जीवों पर जीवत्व के नाते से दृष्टि नहीं होगी, तब तक हम धर्म के पात्र नहीं हो सकते। बिरादरी, कुल, जाति—इनकी बात धर्मतृष्टि के समय, धर्मपालन के समय चित्त में न भूलनी चाहिये। हे आत्मन् ! तुम उन अचेतन विषयों में क्यों लगा रहे हो ? उनसे हटो और अपनी ओर आवो।

देखो भैया ! हाथी जैसा बड़ा जानवर जो मनुष्य की पीठ पर लात रख दे तो वह जीवित न रह सकेगा, किन्तु स्पर्शन इन्द्रिय के वश में आकर वह गड्ढे में गिरता है और अंकुश से पीड़ित हो-होकर वश में कर लिया जाता है या वह हाथी भूख के मारे मर जाता है। रसनाइन्द्रिय के वश में होकर मछली लोहकंटक को अपने गले में फंसा लेती है और अपने प्राण गंवा देती है। नासिका इन्द्रिय के वश होकर भँवरा जिसमें इतना बल है, कला है कि मोटे काठ को भी छेदकर आरपार पहुंच सकता है, किन्तु कमल की सुगंध के वश होकर जब फूल में बैठ जाता है और संध्या के समय फूल में बंद हो जाता है, पर उसको यह बुद्धि नहीं जगती है कि कमल के पत्ते को छेदकर बाहर निकल जावे। वह वहीं भीतर पड़ा हुआ ही मर जाता है। नेत्रेन्द्रिय के आधीनता की बात तो सामने ही खूब रात-बिरात देख लो-चिराग जल रही हो तो ये पतंगें आ-आकर उस पर बैठते हैं और मर जाते हैं। कर्णेन्द्रिय की बात देखो—सर्प, हिरण आदि इसी तरह पकड़े जाते हैं। उन को बीत की मीठी तान सुनाई देती है तो उस आवाज में मस्त होकर वे निकट आ जाते हैं और पकड़े जाते हैं। एक-एक इन्द्रिय के वश होकर जीवों ने प्राण गंवाए तो इन मनुष्यों के लिए क्या कहा जाए ? ये तो पांचों इन्द्रियों के वश हैं। जब से पैदा हुए और जब तक मरते नहीं हैं—बूढ़े तक क्लिवित मची रहती है, चैन नहीं पाते हैं।

हे आत्मन् ! देख तेरा स्वरूप तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र है अथवा तू तो तू ही है, तेरा स्वरूप अवक्तव्य है, किन्तु जो परिणति विदित हुई है, उस परिणति के द्वार से निरखकर यह तो निर्णय कर कि तेरा तो स्वरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। इसका बिगाड़ हुआ तो तेरे सर्वस्व का बिगाड़ हुआ। यह गुण अचेतन पदार्थों में नहीं है, फिर अचेतन पदार्थों में क्यों उपयोग लगाए है और अपना घात करता है ? वस्तुस्वरूप का वर्णन करके आचार्यदेव अब अगली बात का उपदेश कर रहे है। माना जायेगा तो भला होगा, न माना जायेगा तो संसार में रूलेगा। अब जिस प्रकार अचेतन विषयों से निवृत्त होने का उपदेश किया है तो अब कुछ पढ़े-लिखे लोगों के ही लिए उपदेश किया जा रहा है कि अचेतन कर्मों में भी तू क्यों उलझ रहा है।

गाथा 367

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थिहु अचेयणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि।।३६७।।

उद्दण्डता की समस्या—दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ये कुछ भी नहीं हैं अचेतन कर्म में। हे आत्मन् ! फिर तू कर्मों से क्या घात करता है, तू उन कर्मों के निमित्त अपना घात क्यों करता है, तू उन कर्मों के घात के हठ पर क्यों तुला हुआ है, उन कर्मों में उलझकर तू अपना घात क्यों कर रहा है ?

कर्म की झाँकी—देखो, ये पौद्गलिक द्रव्यकर्म अचेतन हैं, सूक्ष्मस्कंध है। कोई ऐसा सूक्ष्म मूर्तिक वातावरण है कि जिस विजातीय परद्रव्य का निमित्त पाकर यह जीव उल्टा–उल्टा चल रहा है। कोई भला लड़का कल तक तो ठीक था और आज ही एकदम उद्दण्ड हो गया तो समझ लेना चाहिए कि किसी उद्दण्ड लड़के ने बहका दिया है। यह ज्ञानमात्र आत्मदेव जिसका स्वभाव शुद्ध स्वच्छ जाननमात्र है, किन्तु यह विपरीत चल रहा है तो जानना चाहिए कि कोई विजातीय परद्रव्य का संसर्ग है, जिसके निमित्त से यह अपनी उल्टी चाल से चल रहा है। यह जीव जब कषाय भाव से परिणत होता है तो कर्म बनने के योग्य जो कार्माणवर्गणाएं हैं, उनका बंधन होता है और उसी समय उन स्कन्धों में प्रकृति पड़ जाती है। प्रदेश तो उनमें है ही और फलदान शक्ति का निमित्तपना भी निश्चित हो जाता है। ये सब उसके एक साथ हो जाते हैं।

कर्मस्वरूप निरूपण में भोजन परिणमन का एक दृष्टांत—जैसे अपन भोजन करते हैं तो भोजन करने पर भोजन का जितना स्कंध है, प्रमाण है, उसका सम्बंध हुआ और उसमें प्रकृति भी पड़ जाती है कि भोजन का यह अंश खून बनेगा, यह अंश पसीना बनेगा। पसीना दो घण्टे तक रहेगा, खून दो-चार वर्ष तक रहेगा, यह मांस १०-२० वर्ष तक रहेगा, यह हड्डी ५०-६० वर्ष तक रहेगी—ऐसी उसमें स्थिति भी पड़ जाती है और अनुभाग भी उसमें बन जाता है। खून इतनी शक्ति वाला है, पसीना सबसे कम शक्ति वाला है और-और धातु अमुक-अमुक अनुभाग वाली हैं-ऐसा उस में अनुभाग भी पड़ जाता है। ऐसा ही जिन कार्माणस्कंधों का बंध होता है, उसमें प्रकृति पड़ जाती है कि ये कर्म ज्ञान नहीं होने देंगे, ये कर्म सुख-दुःख के कारण बनेंगे। स्थिति पड़ जाती है कि यह कर्म इतने वर्ष रहेगा। वर्षों तक क्या, साग़रों रहा करता है अज्ञानियों के और उनमें अनुभाग भी पड़ जाता है। यह इतने दर्जे तक फल देने में निमित्त होगा, यों ये अचेतन कर्म हैं। हे आत्मन् ! इन कर्मों में उलझकर तू क्यों अपना घात करता है ?

पर में व्यर्थ का उद्यम विकल्प—ज्ञान, दर्शन और चारित्र अचेतन विषयों में नहीं हैं। यह बताने का प्रयोजन यह है कि हे मुमुक्षु जीव ! तू दर्शन, ज्ञान, चारित्र के विकार का विनाश करना चाहता है ना तो तू

परद्रव्यों में कुछ विनाश करने की मत सोच। परद्रव्यों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के विकार नहीं हुआ करते है। जीवों को भ्रांति इन तीनों जगह है अपने सुधार और बिगाड़ में—विषय में, कर्म में और देह में। सो इनमें संहार उद्धार का विकल्प करके यह मोही अपना संहार कर रहा है।

विषयों में भ्रांति का कारण—विषयों में यों भ्रांति हो गई है कि रागद्वेष परिणाम जो उत्पन्न होते है, वे किसी परविषयक विकल्प करते हुए होते हैं। जिन परद्रव्यों का आश्रय करके ये रागादिक भाव होते है, उन विषयों में अज्ञानी जनों को यह भ्रांति हो गई है कि ये विकार इन विषयों से उत्पन्न हुए हैं और जब अपने विकार का विनाश करने के लिए धर्मबुद्धि करता है तो इस भ्रांति के कारण परद्रव्यों में घात, त्याग, विकल्प करना चाहता है।

कर्मों में भ्रांति का कारण—कर्मों में अपने विकार की भ्रांति इसलिए हो गई है कि चूंकि कर्मों का उदय आदि का निमित्त पाकर ये विकार हुआ करते है। इस कारण इनको उन कर्मों में यह भ्रांति होती है कि ये विकार कर्मों से हुआ करते है। कभी आत्मा के शुद्ध सहजस्वरूप का वर्णन सुन लिया तो भ्रांति के उपादान वाले जीवों को फिर यह भ्रांति होती है कि रागद्वेष तो कर्मों की ही चीज हैं, कर्मों में ही होते हैं। सो कर्मों का घात करना चाहिए अथवा खूब चद्दर तानकर सोना। फिक्र क्या है ? रागद्वेष तो कर्म में होते हैं। इस प्रकरण के बताने का प्रयोजन यह है कि ये विकार रागद्वेषादिक जब तक उदित होते हैं, तब तक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं होता और ज्ञेय को ज्ञेयरूप नहीं रहने दिया जाता। जैसे कोई पुरूष किसी भ्रम में आकर अपना बड़ा नुकसान कर रहा हो तो उसे देखकर लोग यह कहते हैं कि बेचारा क्या करे, भ्रम होने की बात तो थी ही ? इसी तरह अज्ञानी जनों को अपना कर उनकी बात देखी जाए तो यह कहा जाएगा कि ये बेचारे भोले प्राणी क्या करें, भ्रम के लायक तो उनकी बात ही थी। जरा और बढ़ गए, भ्रम पक्का बना लिया। भ्रम के लायक बात यों थी कि रागद्वेष के निमित्तभूत कर्म भी ऐसी अपनी बड़ी तैयारी के साथ परिणमना करके कि देखो जब कर्म आता है तो प्रदेशबंध हो जाता है और उसी समय उन प्रदेशों में प्रकृतिबंध हो जाता है। इतना प्रदेश सुख-दुःख के उत्पन्न करने में इतने ज्ञान का आवरण आदि में निमित्त होगा। ऐसा विभाग बन जाता है, उनकी स्थितियाँ बन जाती है। ये स्कंध इतने सागर तक रहेंगे और उनमें अनुभाग बन जाते है—ऐसी जो विकट तैयारी से परिणमे और कर्म उदय में आए, उसमें यह विचार करेंगे कि कुछ भ्रम में पड़ गया और भ्रम बढ़ा लिया। अपना बिगाड़ कर लिया तो क्या करे बेचारा ? यों देखा जा सकता है उन अज्ञानी जनों को कुछ अपने बंधुत्व का नाता रखकर।

प्रज्ञापूर्ण दृष्टि में विकार की निराधारता—भैया ! अपनी प्रज्ञापूर्ण बात तो यह है कि जो अवस्था जिस वस्तु में पाई जाती है, उस वस्तु में उसको तकें। ये रागद्वेष आत्मा में पाये जाते हैं। आत्मा में दर्शन, चारित्र के विकार हैं उसमें देखो जरा और विवेक करो तो ये रागद्वेष कहीं नहीं पाये जाते हैं—न आत्मा में पाये जाते हैं, न कर्मों में पाये जाते हैं। जैसे दर्पण में परपदार्थ का जो प्रतिबिम्ब हो गया है, वह प्रतिबिम्ब किसका है ? अनभिज्ञतापूर्ण जवाब तो यह है कि परपदार्थ का है और कुछ थोड़े विवेक का जवाब यह है

कि दर्पण का है और सूक्ष्मदृष्टि वाले पुरूष का जवाब यह है कि प्रतिबिम्ब कहीं है ही नहीं, न दर्पण में है, न परपदार्थ में है, परन्तु उस काल ऐसा ही योग मिला। निमित्त सन्निधान है कि यह दर्पण में यह बिम्ब झलक बैठा।

कर्मों के आस्रव के साक्षात् कारण के सम्बंध में विचार—कर्म के आस्रव का साक्षात् कारण क्या है ? निमित्त की बात कह रहे हैं। जो नवीन कर्म आस्रव को प्राप्त होते हैं, उनका साक्षात् निमित्त क्या है ? क्या रागद्वेष परिणाम है ? रागद्वेष परिणाम नवीन कर्मों के आस्रव के साक्षात् कारण नहीं हैं, किन्तु नवीन कर्मों के साक्षात् निमित्त हैं उदयागत पुद्गल। उदय में आये हुए कर्म नवीन कर्मों के आस्रव के साक्षात् निमित्तभूत हैं। बात कुछ नई सी लगेगी, पर यह बात सिद्धान्त में लिखी है। बहुत सूक्ष्म बात होने से सिद्धान्त में हर एक जगह नहीं लिखा है। हर जगह यही देखने को मिलेगा कि रागद्वेष भावों का निमित्त पाकर नवीन कर्मों का आस्रव होता है, किन्तु वहां बिल्कुल यथार्थ बात यह है कि उदय में आये हुए पुद्गल कर्म का निमित्त पाकर नवीन कर्मों का आस्रव होता है और उदय में आये हुए कर्मों में नवीन कर्मों के आस्रव का निमित्तपना आ सके, इस बात के लिए निमित्त होता है रागद्वेष भाव। तब नवीन कर्म के आस्रव के निमित्तभूत उदयागत पुद्गल कर्मों में निमित्तत्व के निमित्तभूत रागद्वेष परिणाम में उपचार से सीधा यों कहा जाता है कि रागद्वेष भाव का निमित्त पाकर नवीन कर्मों का आस्रवण हुआ।

दृष्टांतपूर्वक निमित्तत्व के निमित्त होने का स्पष्टीकरण—अच्छा अब एक मोटी बात लो-एक आदमी अपने पालतू कुत्ते के साथ जा रहा था। दूसरा पुरूष जो इस कुत्ते वाले का अनिष्ट था, उसके प्रति मालिक ने कुत्ते को सैन कर दी छू-छू, वह कुत्ता उस पर झपट पड़ा। अब यह बतावो कि उस अनिष्ट पुरूष पर साक्षात् आक्रमण किसने किया ? साक्षात् आक्रमण कुत्ते ने किया और कुत्ते में आक्रमण करने की दम आई, ऐसी सैन किसकी मिली ? मालिक की। जैसे मालिक की सैन पाकर कुत्ते में आक्रमण करने का बल हो जाता है, इसी प्रकार रागद्वेष परिणाम की सैन पाकर उदयागत पुद्गल कर्मों में नवीन कर्मों के आस्रव का निमित्तपना आ जाता है। इस सम्बंध में समयसार के आस्रवाधिकार की प्रथम गाथावों को देखने और उन पर ऊहापोह करने से इसकी झलक मिलेगी। तब ऐसा है कि नवीन कर्मों के उदय का निमित्त पुद्गल कर्म है। तो यह कहना चाहिये कि कर्मोदय होने से नवीन कर्मों का आस्रव होता है, किन्तु कर्मोदय में नवीन कर्मों का आस्रव का निमित्तपना आये, इसके लिए निमित्त है रागद्वेष परिणाम। तब यह कहा जाएगा कि केवल उदय से कर्म का आस्रव नहीं होता, किन्तु रागद्वेष हो तो आस्रव होता है।

कर्मोदय होने पर भी बन्ध न होने के वर्णन का प्रथम रहस्य—जयसेनाचार्यजी की टीका में जहां यह वर्णन आया है कि उदयमात्र से कर्मबंध नहीं होता है, यदि कर्मोदय मात्र से बंध होता है तो फिर मुक्ति का अभाव हो जाएगा। उस शब्द के दो-तीन अर्थ निकलते है, केवल एक ही भाव नहीं है। एक तो रहस्यभूत यह बात है कि चूंकि नवीन कर्मों के बंध में निमित्त कर्मोदय है और कर्मोदय में नवीन कर्मों के बंध का निमित्तपना आ सके, इसके लिए निमित्त होता है रागद्वेष परिणाम। तब यही बात निकली ना कि रागद्वेष

परिणाम हो तो कर्मों का बंध होता है। केवल उदयमात्र कर्मों का बंध नहीं होता है, पहिला भाव तो यह लगाना।

कर्मोदय होने पर भी बंध न होने के वर्णन का द्वितीय रहस्य—दूसरा भाव यह लगाना कि जहां निमित्तभूत विभाव का अत्यन्त जघन्य भाव प्राप्त है, ऐसे दसवें गुणस्थान में जहां सूक्ष्म दृष्टिगत स्पर्द्धकों का उदय है और सूक्ष्मदृष्टि से लोभकषाय का परिणमन है, उस जगह कर्मों का उदय है, फिर भी कर्मों के बंध का कारण नहीं हो रहा है, इसलिए कर्म के उदयमात्र से बंध नहीं होता।

कर्मोदय होने पर भी बंध न होने के वर्णन का तृतीय रहस्य की भूमिका—तीसरा भाव यह लेना कि कर्मों के उदय का आना दो प्रकार से देखा जाता है। एक उदयावाली में वे स्पर्धक आ गए, इसका भी नाम उदय है और उदयावली होती है असंख्यात समयों की, उन असंख्यात समयों में जो निषेक है, जहां एक समय में उदय को प्राप्त होता है, उस एक समय में आने का नाम उदय है। जैसे कर्मों की विचित्र अवस्था हुआ करती है, इन दोनों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। जहां नाना प्रकार के विभाव हों, वहां कर्मों की अवस्था निमित्त है। कर्मों की नाना दशाएँ बनाने में जीव के परिणाम निमित्त हैं। इस जीव के जो एक समय में कर्मबंध हुआ, जितनी स्थिति को लेकर उसमें से अबाधाकाल को छोड़कर शेष स्थानों में निषेक पसर जाते हैं और वे निर्णीत हो जाते हैं एक समय में बँधें हुए कर्मों से। जैसे कि मानों हज़ारों वर्षों तक उदय रहता है। तो पहिले समय में उस समयप्रबद्ध में से जितने परमाणु उदय में प्राप्त होंगे, उससे कम दूसरे समय में, उससे कम तीसरे समय में, इस तरह कम-कम चलते-चलते अंत में हजारवें वर्ष के आखिरी समय में उस समय के बाँधे हुए कर्मवर्गणावों में अत्यन्त कम प्रमाण में कर्म परमाणु उदय में मिलेंगे, किन्तु अनुभाग का हिसाब इससे उल्टा है। जहां बहुत से परमाणुवों का उदय है, वहां अनुभाग शक्ति कम है और अगले-अगले समय में अनुभागशक्ति विशेष बढ़ी हुई है और अंत में जो खिरेगा, उसमें अनुभागशक्ति विशेष है।

समयप्रबद्ध का निषेक विस्तार—जैसे मानों पहिले मिनट में बंध हुआ, कर्मों का उसका फैलाव हुआ एक हजार वर्ष तक में, तो दूसरे मिनट में बन्ध हुए कर्म का उसी तरह फैलाव हुआ, तीसरे मिनट में भी बँधें हुए कर्म का इसी तरह फैलाव हुआ तो समझो कि एक समय में जितने निषेकों का उदय आता है। वह हज़ारों, लाखों, करोड़ों, अरबों साल पहिले के बँधें हुए कर्मों के बहुत वर्षों के बँधें हुए कर्मों के हिसाब से आए हुए एक समय में उदय होता है। तब उनकी इस अनुकृष्टि रचना से जैसा अनुभाग जिस समय में जैसे अनुभाग का लिए हुए कर्मों का उदय होता है। ऐसी दशा में किसी समय कर्म भार थोड़ा उदित है, किसी समय अधिक उदित है ऐसा विचित्र कर्मभार कर्मों की ही वजह से उनके ही सत्त्व और अनुभाग के बँटवारे के कारण हीनाधिक शक्तिवाला कर्म उदय में आता है। यह तो है कर्मों की दशा और यहां जीव के विभावों की भी ऐसी विचित्र दशा है कि प्रथम तो जैसा कर्मों का उदय हुआ—कभी मंद, कभी तीव्र,

अनुभाग वाला, उस प्रकार वहां परिणमन हुआ और फिर भी भावस्थान अनन्तगुणे हैं, उदयस्थान, भावस्थान से कम है।

उदयस्थानों से भावस्थानों की अधिकता—जैसे १-१ पैसा मिलकर एक आना हुआ और एक-एक आना मिलकर १६ आने हुए, तब जाकर रूपया बना। फिर इसके बाद एक एक पैसा मिलाया तो एक आना हुआ और उससे एक-एक आना मिलाया तो १६ आने हुए, तब जाकर १ रू हुआ। इस तरह से आप लगाते जावो तो रूपये का स्थान कम रहा और पैसों का स्थान अधिक रहा। जब जाकर ६४ पैसे हुए तब १ रूपये का स्थान हुआ। तो जैसे रूपये का स्थान कम है पैसे का स्थान अधिक है इसी तरह उदय स्थान कम होता है और भावस्थान अधिक होता है। उदय स्थान में जो एक यूनिट है, उदयस्थान का एकत्व है जो एक उदय स्थान में अनगिनते भावस्थान पड़े हुए हैं तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार वहां यह अवसर है कि एक उदयस्थान के होते हुए भी उसमें जितने भावस्थान गर्भित हैं उनमें से जघन्य भावस्थान बनाया मध्यम भावस्थान बना या उत्कृष्ट भावस्थान बना। ऐसे दोनों निमित्तों में जीवभाव और कर्मदशा दोनों निमित्तों में इस तरह का संतुलन और असंतुलन होने के कारण कभी कभी विचित्र विचित्र घटनाएं बन जाती हैं।

स्तिबुक संक्रमण—इस प्रक्रिया में चलते हुए कोई ऐसी भी घटना बनती है कि उस जाति के स्पर्द्धक उदयावली में आए पर जैसे कोई जवान, शत्रु के सिर पर चढ़ आने पर भी सावधानी वर्त सकता है इसी प्रकार कोई ज्ञानी उदयावली में कर्मों के आने पर भी सावधानी वर्त सकता है। ऐसा साहस ज्ञानी में पड़ा हुआ है। और इस सावधानी के प्रताप से विशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर उदयक्षण से पहिले उदयावली में आये हुए भी कर्म संक्रमण को प्राप्त हो जाते हैं। इसका नाम करणानुयोग में है-स्तिबुक संक्रमण।

भवस्थितिवश संक्रमण—कितने ही स्तिबुक संक्रमण तो इस जीव की परिस्थिति वश हुआ करते हैं। जैसे इस समय हम और आप मनुष्य हैं, भोग में आ रहा है मनुष्यगति का उदय और उदयावली में चल रहे हैं चारों गतियों के उदय। हम और आपकी बात है यह। हम और आपके नरकगति का भी उदय आ रहा होगा, तिर्यंच गति का भी उदय आ रहा होगा, देवगति का भी उदय आ रहा होगा और मनुष्यगति का तो उदय स्पष्ट ही है। लेकिन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की परिस्थितिवश वे तीन गति के उदय उदयावली में आकर भी उदय क्षण से पहिले मनुष्यगतिरूप संक्रमण करके ये खिर जाया करते हैं। तो कोई ऐसा स्तिबुक संक्रमण सेनापति जैसा शासन कहीं तो परिस्थितिवश होता है और कहीं ज्ञानबल के वश होता है, इतना अन्तर है।

ज्ञानसाध्य संक्रमण—इन सब मनुष्यों की परिस्थितिवश हो रहा है ऐसा अन्यगतियों का संक्रमण और ज्ञानी संत पुरूषों के ज्ञानबल से कषायादिक प्रकृतियों का संक्रमण ऐसा हो जाया करता है। यदि उस स्थिति को देखो तो उदयावली में कर्म आए इसलिए उदय कहलाया, पर उदय में आकर भी कर्म के

आस्रव करने का निमित्त नहीं बन सका वह उदयागत कर्म। इस कारण यह बात यथार्थ है कि केवल उदय में आने से कर्मों का आस्रव नहीं होता, किन्तु रागद्वेष परिणाम हों तो आस्रव होता है।

विभावों में निमित्तनैमित्तिकता–एक विशेषता और है। चेतन अचेतन पदार्थों का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक भाव प्रतिबन्धक का अभाव रहे तो अनुरूप कार्य होना अटल है। जैसे चूल्हा जल रहा है, चूल्हे पर पानी भरी बटलोही रख दी, अब यहां माला रखकर जपते जावो कि हे भगवान पानी न गरम हो, पानी न गरम हो तो इससे वहां कुछ भी असर नहीं है। वहां चेतन अचेतन का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक चल रहा है। इसी तरह अचेतक श्रद्धागुण में, अचेतक चारित्रगुण में अचेतक कर्मों का निमित्तनैमित्तिक चल रहा है। वहां प्रतिबन्धक है ज्ञानबल। प्रतिबन्धक ज्ञानबल के अभाव में वह निमित्तनैमित्तिक भाव बनना एकदम आम खुली बात है। हां प्रतिबन्धक ज्ञानबल आगे आ जायेगा तो उदयक्षण से एक समय पहिले वे मिटा भी दिये जा सकते हैं। इस तरह कर्म का और चेतन का युद्ध चलता है। ज्ञानीपुरूष इस युद्ध में सफल हो जाते हैं, अज्ञानीजन इस युद्ध में हार जाते हैं, और संसार के जन्म मरण के चक्कर बढ़ाते रहते हैं।

घनिष्ट सम्पर्क होने पर भी कर्म में आत्मगुण का अत्यन्त अभाव—कर्मों का आत्मपरिणमन के साथ एक निमित्तनैमित्तिक रूप में घनिष्ट सम्बंध है और इसी कारण अनेक पुरूषों ने ये इन विभाव परिणमनों को इस तरह देखा है कि जैसे मानो सर्व नाच ये कर्म ही कर रहे हैं और यह आत्मा तो केवल उनके कृत्यों को अपना रहा है। यहां तक भी अनेक पुरूषों की दृष्टि चली जाती है। ऐसे भी घनिष्ट सम्बंध वाले कर्मों में हे आत्मन् ! तेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र नहीं हैं, फिर उन अचेतन कर्मों में तू क्या घात करता है ? इस प्रकार कर्मों के संग्रह विग्रह आकर्षण दृष्टि गुणगान आदिक श्रमों को दूर करके अब अचेतन शरीर के सम्बंध में कहा जा रहा है।

गाथा 368

दंसणणाणचरित्तं किंचि णित्थ हु अचेयणे काये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु।।३६८।।

शरीर में आत्मगुणों का अत्यन्त अभाव—हे आत्मन् ! अचेतन काय में तेरा दर्शन ज्ञान और चारित्र नहीं है फिर क्यों उन अचेतन कार्यों में घात कर रहा है। यह सभी को विदित है कि इन प्राणियों की दृष्टि इस शरीर पर बहुत अधिक है। जैसा भी शरीर हो, सभी अपने शरीर में आसक्ति बुद्धि किए हैं। यह दूसरे के शरीर में कैसे प्रेम करले ? वहां तो इस आत्मा का किसी प्रकार का औपचारिक भी सम्बंध नहीं है। कल्पनाएँ करके कोई ऊधम मचावे तो यह तो एक उद्दण्डता की बात है। पर जैसे खुद के अधिष्ठित शरीर के साथ इसका सम्बंध है इस प्रकार पर शरीर के साथ जीव का सम्बंध नहीं है। सो करता है यह शरीर

से प्रेम। किन्तु ये शरीर प्रीति के लायक नहीं है। इस शरीर में क्या सार दिखता है ? जिस पर यह आत्मा अपनी प्रभुता का घात करके अपना अमूल्य समय खो रहा है।

शरीर में सारत्व का रंच भी सद्भाव का अभाव—शरीर में अन्दर से लेकर बाहर तक कोई भी धातु पवित्र नहीं है। अचेतन हैं, गंध बहाने वाली हैं, नष्ट हो जाने वाली हैं और इसके सेवा करते-करते भी यह रोगी होता है। इस शरीर में कौनसी चीज ऐसी है जिसके पीछे पागलपन छाया रहता है। यह स्वभाव से अपवित्र है, पाप का बीज है, दुखों का कारण है। भ्रम अंधकार में भटकाने के लिए एक बलाधान निमित्त है, ऐसे इस शरीर से रात दिन प्रीति रहना, रूचि होना ये सब संसार में कुयोनियों में भ्रमाते रहने के उपाय हैं। इस शरीर से दृष्टि हटाकर आंखें बंद करो, इन्द्रियों को संयत करो, कुछ अपने आपको तो देखो, यह विशुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप एक परमात्मतत्त्व है। उस अपनी प्रभुता को भूलकर व्यर्थ भिन्न असार वस्तुवों में क्यों अपना उपयोग लगाए फिरता है। यह तेरा कर्तव्य नहीं है। क्यों उन शरीरों में उपयोग लगाकर यह प्रभु अपना घात कर रहा है अथवा उन शरीरों को ही सुख और दुःख का कारण मानकर वहां ही संग्रह और विग्रह कर रहा है अथवा उन शरीरों का लक्ष्य रखकर उन शरीरों के प्रयोजन के लिए अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र का घात कर रहा है।

शरीर की शरारत—इस शरीर को उर्दू का शरीर शब्द लें तो उसका अर्थ निकलता है धूर्त, बदमाश। शरीर का विरूद्ध शब्द है शरीफ। शरीफ मायने सज्जन और शरीर मायने दुष्ट। शरीर शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ लगायें तो शीर्यते इति शरीरं। जो जीर्णशीर्ण हो उसे शरीर कहते हैं। इस शरीर की कुछ इज्जत है तो तब तक है, जब तक जीव का सम्बंध है। जीव के निकलने के बाद इस शरीर से कोई मोह भी करता है क्या ? जल्दी पड़ती है जलाने की। इसे देर मत करो, नहीं तो मुहल्ले में हैजा फैल जाएगी। इस शरीर में कौनसी सारभूत वस्तु है, जिस पर दीवाना बनकर अपने आपको भूलकर अंधकार में दौड़ें चले जा रहे हैं।

शरीर की क्या संभाल—भैया ! दूसरी बात यह है कि शरीर की संभाल के ध्यान से भी शरीर संभलता नहीं है। रईस लोगों के बच्चे गोद ही गोद में फिरा करते हैं, कभी जमीन पर पैर नहीं रखते, तब भी उनके बच्चों के शरीर की संभाल नहीं होती है और गरीब लोगों के बच्चे जो जमीन पर ही लोटा करते हैं, जिनकी कभी कोई परवाह ही नहीं करता है, वे बड़े तन्दुरुस्त और प्रसन्न दिखते हैं। शरीर की संभाल करने से शरीर को स्वयमेव ही ऐसा वातावरण मिलता है कि यह पुष्ट और कांत होता है।

शरीर प्रकृतियों की विषमता—एक बार राजा कहीं घूमने चला जा रहा था। उसने रास्ते में देखा कि एक औरत सिर पर डलिया रखे चली जा रही थी। चलते चलते ही रास्ते में उसके बच्चा हो गया और बच्चे को डलिये में रख करके फिर चलने लगी। राजा सोचता है कि हमारे यहां की रानियां बड़े नखरे किया करती हैं। बच्चा होने के ६ महीने पहिले से ही तमाम सेवाखर्च चौगुना करना पड़ता है और ६ महीने तक मारे उनके नखरों के सारा घर परेशान हो जाता है। सोचा कि जैसी यह स्त्री हैं, वैसी ही वे हैं। जैसे इसके हाथ पैर हैं, वैसे ही उनके हाथ पैर हैं-ऐसा जानकर उनका सेवाखर्च राजा ने बंद कर दिया।

बिल्कुल साधारण सा सेवा खर्च रखा। किसी रानी को जब उन चर्चावों से ऐसा भान हुआ कि राजा के मन में यह बात समायी हैं कि जब गरीब महिलायें चलते-फिरते आसानी से बच्चे पैदा करती हैं, कोई नखरे नहीं करती है और ये रानियां बड़े नखरे किया करती है, तब रानी ने क्या किया कि राजा के बाग के मालियों को हुक्म दे दिया कि कल के दिन इन पौधों में पानी नहीं सींचा जायेगा, कल के लिए तुम छुट्टी रखो। दूसरे दिन मालियों ने उन पौधों को न सींचा तो सारे बेला, गुलाब, चमेली आदि के फूल कुम्हला गए। जब राजा ने आकर देखा कि सारे फूल कुम्हला गए हैं तो मालियों से पूछा कि इन पौधों को क्यों नहीं सींचा ? मालियों ने उत्तर दिया कि रानी का आदेश था कि कल इन पौधों को न सींचा जाए। राजा ने रानी से कहा कि बाग़ सिंचना आज क्यों बंद रखा। देखो सारे पेड़, पत्ते, फूल मुरझा गए। रानी राजा से बोली कि क्या हर्ज है इसमें ? पहाड़ पर इतने पेड़ खड़े है, वे क्या रोज-रोज पानी पीते हैं, फिर भी सदा हरे भरे बने रहते हैं। जब वे पहाड़ के पेड़ बिना पानी के हरे-भरे रह सकते हैं तो यह तो मामूली छोटे-छोटे पौधे है, एक बार पानी न मिला तो क्या है ? राजा बोला कि अरे ! वे जंगल के पेड़ हैं, ये बाग़ के फूल है, उनकी इनसे तुलना क्यों करती हो ? रानी बोली कि वे तो गरीबों की औरतें हैं और हम राजा की रानियां हैं, तुम उनसे हमारी तुलना क्यों करते हो ?

शरीर की असारता—देखो भैया ! पोसते-पोसते भी यह शरीर पुष्ट नहीं होता। यह शरीर असार है, अहित है, असक्ति का ही कारण है, ऐसे इस शरीर से क्या प्रीति करनी। देखो यह शरीर आहारवर्गणावों का पिण्ड है। आहारवर्गणा से मतलब भोजन से नहीं है, बल्कि इस लोक में ठसाठस जो ऐसे परमाणु भरे पड़े हैं, जिनका परिणमन शरीररूप हो जाता है, उन्हें वर्गणाएँ कहते हैं। यह शरीर अनन्ताहारवर्गणावों का पुंज है, इसमें अनेक आहारवर्गणाएँ आती है और जाती रहती हैं प्रतिसमय। अनन्ताहारवर्गणाएँ ऐसी जीव के साथ लगी हुई हैं कि जो वर्तमान में शरीर रूप तो नहीं हैं, पर शरीररूप होने के उम्मीदवार हैं, इसे कहते हैं विस्रसोपचय। जैसे कर्मों के विस्रसोपचय होता है, इसी तरह शरीर के भी विस्रसोपचय होता है।

शरीर के स्थायित्व का भ्रम—उन आहारवर्गणावों के पिण्डरूप में जो कि प्रवेश कर रहे हैं, गल रहे हैं, थोड़ा सा भ्रम यह लग गया है कि यह शरीर तो स्थिर हैं। इस भ्रम का कारण यह है कि अनेक वर्गणाएँ इस शरीर से निकलती हैं, आती हैं, फिर भी शरीर की समानता में अन्तर नहीं आता। इस कारण यह भ्रम हो गया कि यह शरीर स्थायी है। कभी ऐसा नहीं देखा गया यहां कि आज यह मनुष्य जैसा और कल यह गाय जैसा कहो बन जाए, क्योंकि शरीरवर्गणायें अटपट ढंग से कहीं कम कहीं ज्यादा आ जाए, ऐसा नहीं हो रहा है, इसलिए समान आकार बना है। जो कल था, वैसा ही आज है। सो अज्ञानी जीवों को इस शरीर में स्थायित्व का भ्रम हो गया है। कभी मरण की चर्चा आए तो यही ध्यान होता है कि दूसरे मरा करते हैं, अपने आपमें यह विश्वास नहीं जगता कि मैं भी मरूंगा, किसी किसी को तो अपने मरण का ख्याल भी कभी नहीं बनता है। जैसे कि विवाह की चिट्ठियां बँटती हैं कि अमुक तिथि को विवाह होगा, इसी तरह किसी के मरण के आमंत्रण पत्र नहीं जाया करते हैं कि अमुक दिन अमुक समय में होगा, सो

सब लोग आए, पर अचानक ही सब ढेर हो जाता है। ऐसे असार विनाशीक भिन्न काय में हे आत्मन् ! तू क्यों अपना घात करता है।

मनुष्य का व्यामोह—इस शरीर से और अन्य संतान शरीर से इतना मोह बढ़ाया है कि खुश होते हैं कि लड़का हो गया। कैसे खुश होते हैं कि अब पोता हो गया, ये नाती-पोते हैं। लड़के के लड़के का नाम पोता, लड़की के लड़के का नाम नाती-यों बोला करते हैं कहीं-कहीं, किन्तु फर्क तो कुछ होना चाहिए तो लड़की के लड़के का नाम नाती है। पुत्र के लड़के का नाम पौत्र और पौत्र के अगर लड़का हो जाये तो उसका नाम प्रपौत्र मायने पंती। कदाचित् पंती के भी लड़का हो जाए तो उसे बोलते हैं संती। लोग बड़े खुश होते हैं कि यह बड़ा भाग्यवान हैं बुड्ढा, इसने संती का मुख देख लिया है। जब मर जाएगा बुड्ढा तो एक आठ आने भर की सोने की नसेनी उसकी चिता के साथ रखी जाती है। काहे के लिए? जिससे यह बुड्ढा इस नसेनी से चढ़कर स्वर्ग में पहुंच जाएगा। मगर यह तो बतावो कि नसेनी चढ़ने के ही काम में आती है कि उतरने के भी काम में आती है ? इसमें तो मेरे ख्याल से उतरना ज्यादा सम्भव है। उतरना इसलिए संभव है कि पहिले लड़के से बहुत मोह किया, फिर पोते से बहुत मोह किया, फिर पड़पोते से बहुत मोह किया और फिर संती से बहुत मोह करके मर गया। जिसने चार-चार पीढ़ियों में खूब मोह किया है, उसका तो स्वर्ग में चढ़ने की अपेक्षा नरक में उतरना ही अधिक सम्भव है। जिन अचेतन शरीरों में इतना व्यामोह पड़ा है कि ये कुछ भी साथ नहीं होते, ये केवल क्लेश के ही हो जाने के कारण हैं। उन कर्मों में हे आत्मन् ! तू क्यों अपना घात करता है।

उक्त तीनों कथनों का शिक्षारूप कथन करने के लिए अब कुछ तीन गाथावों में वर्णन कर रहे हैं।

णाणस्स दसंणस्स य भणिओ घाओ ताह चरित्तस्स।

गाथा 369,370,371

ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोऽवि घाओ उ णिद्दिट्ठो।।३६९।।
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसयेसु।।३७०।।
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एदेण कारणेण हु सद्दादिसु णत्थि रागादी।।३७१।।

चित्तस्थ विकार के त्याग का उपदेश—भगवान सर्वज्ञदेव ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र का घात बताया है। शब्दादिक इन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा रूप से और शरीर में ममत्व के रूप से कर्म बंधो के निमित्त जो अनेक प्रकार के कषाय जगते हैं, मन में मिथ्याज्ञान भरा रहता है उस मिथ्याज्ञान का स्वरूप संभाल के द्वारा, निर्विकल्प समाधिभाव के प्रहार के द्वारा घात करना सर्वज्ञदेव ने बताया है कि तू अपने आपमें बनते

हुए मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का घात करो। अचेतन विषयों में, अचेतन कर्मों में, अचेतन शरीरों में किन्हीं भी पुद्गलद्रव्यों में कोई घात करने का हुक्म नहीं दिया है।

अभिन्न आधार आधेय में एक के घात से दूसरे का घात—देखो जिस जगह जो बात होती है, उसका घात होने पर वह दूसरा भी घत जाता है। जैसे दीपक में प्रकाश होता है तो दीपक का विनाश कर देने से प्रकाश का भी विनाश हो जाता है या जो जहां होता है, उसका नाश होने पर उस दूसरे का भी विनाश हो जाता है। जैसे प्रकाश मिट जाए तो दीपक भी मिट गया, किन्तु जो बात जहां नहीं होती है, वहां उसका घात होने पर भी आधारभूत वस्तु का घात नहीं होता है, जैसे घटप्रदीप। पहिले जमाने में मिट्टी का एक घरबूला बनाया जाता था, उसमें दिया रखा जाता है। उस घरबूले में दिया प्रकाश फैलाता हैं, उसका नाम घटप्रदीप है। जैसे लालटेन है, यह तो शोधित अविष्कार है और पहिले समय में मिट्टी का ही घरबूला बनाया जाता था याने छोटा सा लालटेन जैसा, उसमें दिया रखा जाता था। अब तो वैसा दिया काम में आता नहीं है। वह दिया बुझ जाने पर घरबूला तो नहीं मिट जाता हैं या दृष्टांत में लालटेन ले लो। लालटेन की दिया को ज्योति का नाम दिया है। तो दिया के बुझ जाने पर क्या लालटेन खत्म हो जाती है ? नहीं। वह तो बनी ही रहती है, क्योंकि ज्योति उस लालटेन में नहीं है। वास्तव में जो जिसमें नहीं होता है, उसका घात होने पर दूसरे का घात नहीं होता है। जैसे वह घरबूला कहीं थोड़ा सा टूट जाए तो कहीं दीपक नहीं टूट जाता।

भिन्न वस्तुवों में एक के घात से दूसरे का घात असंभव—भैया ! जो बात जहां नहीं है, उसके मिटने पर दूसरे का घात कैसे होगा ? जीव के कोई भी गुण परद्रव्य में नहीं होता है, फिर किसी परद्रव्य के घात होने पर जीव के गुणों का घात कैसे होगा या जीव के गुणों का घात होने पर किसी परद्रव्य का घात कैसे होगा ? किसी बच्चे को फुसला लें यह बात अलग है। जैसे खम्भे से बच्चे का सिर टकरा गया तो मां उस खम्भे को पीटती है और कहती है कि तूने हमारे राजा भैया को मारा है, जिससे वह बच्चा चुप हो जाता है कि हमारी मां ने इसे खूब सजा दी है, दण्ड दिया है। इस प्रकार बच्चे को भले ही बहका दिया जाए, पर किसी परद्रव्य के घात करने से आत्मा के विकारों का घात नहीं हो जाता। जैसे बताते हैं कि सूरदास ने अपनी आंखों में सूई चुभो ली थी और अन्धे बन गए थे। क्या आंखें जो परद्रव्य हैं, उनके घात कर देने से आत्मा के विकारों का भी घात हो जाता है ? विकारों का घात आंखें फोड़ने से नहीं होगा, बल्कि ज्ञानबल से होगा। रागद्वेषरहित परिणाम से विकारों का विलय होगा।

परद्रव्य के घात से कषायों के घात का अभाव—कभी कोई लड़ाई हो गई पुरूष व स्त्री में या सास व बहू में या देवरानी व जेठानी में। उनमें किसी के हाथ में घी का डब्बा हो और जब गुस्सा न सम्भला तो उस घी से भरे हुए डब्बे को पटक दिया। डब्बा फूट गया और घी बह गया। क्या उस घी के बह जाने से अथवा डब्बे के फूट जाने से क्रोध भी खत्म हो जाएगा ? नहीं, अभी क्रोध नहीं जाएगा। अपनी

सम्भाल के लिए परद्रव्यों के संग्रह-विग्रह पर दृष्टि न रखें, अपने मन में जो रागभाव ठहर रहा है उसका घात करें।

सम्यग्दृष्टि के विषयराग न होने का कारण--पुद्गलद्रव्य का और जीवद्रव्य का परस्पर में सम्बंध नहीं है, एक दूसरे का आपस में अत्यन्ताभाव है। जीव के कोई भी गुण शब्दादिक परविषयों में नहीं है, इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव के विषयों में राग नहीं होता है। यदि जीव के गुण पुद्गल में होते अथवा पुद्गल के गुण जीव में होते तो जीवद्रव्य का घात होने से पुद्गल के गुण का घात होता और पुद्गलद्रव्य का घात होने से जीव के गुण का घात होता, किन्तु ऐसा तो है ही नहीं। प्रत्येक द्रव्य का अपने आपके अपने आपका उत्पादव्यय होता है।

परमार्थदृष्टि में राग का असद्भाव—जब ऐसी वस्तुस्थिति है कि अपने आप में ही अपनी सब बात है तो फिर क्यों सम्यग्दृष्टि पुरूष का विषयों में राग होता है ? एक यह भी प्रश्न है कि क्यों होता है सम्यग्दृष्टि जीव के विषयों में राग ? उत्तर देते है कि किसी भी कारण से नहीं हो रहा है। लोग कहते हैं कि होता है सम्यग्दृष्टि पुरूष के राग। क्योंकि राग है कहां ? रागद्वेष तो मोही जीवों के अज्ञान के परिणमन हैं, कल्पनावों की बातें हैं। वस्तुत: वे रागद्वेष कहीं नहीं होते हैं। विषय तो परद्रव्य है। विषयों में तो राग होता नहीं है और सम्यग्दृष्टि के अज्ञान का अभाव है तथा राग को अज्ञानी ही सम्मानित करते हैं। राग का आधार न तो अब जीव रहा, क्योंकि अज्ञान मिट गया। विषय तो हैं ही नहीं, इसलिए विषयों में वे होते नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि होते नहीं, इसलिए ये रागादिक होते नहीं हैं। यह किस प्रसंग की बात चल रही है ? जो जीव ज्ञानमात्रभाव में रूचि रखता है और ज्ञानमात्रभाव में ही लीन रहने का उत्साह बनाए हुए हैं, लीन भी हुआ करता है-ऐसे ज्ञानी पुरूष के राग नहीं होता है और यदि होता है तो जैसे दिलफटे लोगों की दोस्ती। यों ही उसका अन्तर में स्थान नहीं है। इस तरह राग असहाय, निराधार, जबरदस्ती के उदय की प्रेरणा के कारण हो रहा है, उसे ज्ञानीजीव अपनाता नहीं है।

औपाधिक जाल की वास्तविकता का अभाव—भैया ! ज्ञान ही शांतरूप से परिणमन करता है और ज्ञान ही अज्ञान के अभाव से रागद्वेषरूप उपस्थित होता है। वस्तुस्वरूप में दृष्टि लगाकर देखो तो दिखने वाले ये रागद्वेष कुछ नहीं हैं। जैसे बढ़े कोपरा में पानी रखा हो, रात्रि के समय चाँदनी छिटक रही हो। उस कोपरा में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब बन रहा हो तो बच्चे उस प्रतिबिम्ब को चन्दा मामा ही कहते है। अब उसको देखकर बच्चे उसे पकड़ना चाहते हैं, उससे मिलना चाहते हैं। क्या वे मिल लेंगे, उसे पकड़ लेंगे ? नहीं। क्यों नहीं ? क्योंकि वस्तुस्वरूप में दृष्टि लगाकर देखो तो वहां वह चीज नहीं है। जिसे बालक पकड़ना चाहता है, उस पानी में तो चन्दा है नहीं और आसमान में जो चन्दा है, उसमें भी यह चन्दा मामा

नहीं है। जो चन्दा कोपरा में दिख रहा है, वह कहीं नहीं है, केवल वह एक माया प्रतिबिम्ब है अर्थात् औपाधिक परिणमन है, किसी भी एक वस्तु में नहीं पाया जाता है। केवल वस्तुस्वरूप को देखने वाले यह भी कहेंगे कि रागादिक है ही नहीं। जो निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुए सुख में तृप्त है-ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के विषयों में राग नहीं होता है।

ज्ञानसंवेदन के अभाव में ही रागद्वेष का उदय—राग, द्वेष, मोह परिणाम तो अज्ञानी जीव के अशुद्ध निश्चय से अभिन्न परिणाम हैं। वे विषयों में कहां जायेंगे ? इस कारण चाहे मनोज्ञ विषय हो, चाहे अमनोज्ञ विषय हो, सर्व प्रकार के अचेतन विषयों में अज्ञानी जीव भ्रांति से भले ही रागादिक को आरोपित करे किन्तु शब्दादिक में रागादिक नहीं होते हैं क्योंकि शब्दादिक अचेतन हैं, इस कारण यही सिद्ध हुआ कि राग और द्वेष ये दोनों तब तक प्रेरित होते हैं जब तक स्वसम्वेदन ज्ञान इस जीव के नहीं होता। ज्ञानी जीव अर्थात् जहां सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया है ऐसा जीव भी जब अपने ज्ञान सम्वेदन के उपयोग से च्युत है तब भी रागद्वेष होते हैं। पर श्रद्धा और प्रतीति में इस जीव के रागद्वेष नहीं है, ऐसी ज्ञानी को दृढ़ श्रद्धा होती हैं। तत्त्वदृष्टि से देखकर हे भव्यपुरूषों ! इन रागादिकों का क्षय करो।

व्यर्थ की परेशानी—अहो व्यर्थ परेशान हैं यह जीवलोक इन रागादिक कल्पनाओं के कारण। रागादिक कल्पनाओं की आफत में कुछ प्रयत्न किया, उसके पश्चात् फिर यह रीता का रीता ही मिलता है। इसके साथ कोई शरण नहीं रहता है, कैसी विचित्र लीला है, कैसी तरंगें उठती हैं ? इसको इन्द्रजाल बोलते हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा, उसका जाल है यह । अथवा जैसे इन्द्रजाल वास्तविक मायने में कुछ नहीं है, देखते हैं तो दिखता है, इतना तो सही है ना, पर है नहीं वहां ऐसा, इसलिए इन्द्रजाल कहलाता है। ये रागद्वेषादिक कल्पनाएं इन्द्रजाल हैं। बिल्कुल व्यर्थ का काम है, जिसमें जीव का कोई हित नहीं दिखता है। किन्तु जैसे स्वप्न में देखी हुई बात को झूठ नहीं माना जा सकता, वह तो सच ही मानते हैं, इस ही प्रकार इस अज्ञान कल्पना से देखी हुई बात को यह झूठ नहीं मान सकता है। मेरा ही है यह सब प्रयोजन, मेरा ही है यह सब वैभव। मुझे इसमें ही सुख है। कैसा व्यर्थ का अज्ञान छाया हुआ है। अज्ञान की कुश्ती में लड़भिड़ने के बाद अंत में पछतावा ही रह जाता है।

सुगम और स्वाधीन हितोपाय न कर सकने का विषाद—हे ज्ञानमय आत्मावों ! ज्ञान तो तुम्हारा स्वरूप ही है। इस ज्ञानस्वरूप की ओर दृष्टि क्यों नहीं दी जा रही है ? जैसे बूढ़े की एक खांसी की आवाज में ही जब चोर भाग सकते है ? और फिर भी बूढ़ा खांसने का भी साहस न करे और आंखों देखे, चीजें लूट जाने दे तो इससे बड़ी विपदा की बात और क्या है ? जब हमारा रक्षक प्रभु हमारे अत्यन्त निकट है, कुछ थोड़ा सरकना भी नहीं है ऐसे आत्मतत्त्व की ओर ज्ञानस्वरूप की ओर दृष्टि करने मात्र से जब सारे संकट टल सकते हैं और फिर भी इतना सुगम स्वाधीन काम न किया जा सके और आंखों

देखे, अपनी समझ में भी है और फिर भी अपना ज्ञान और आनन्द धन लुटाए चले जा रहे हैं इन विषय चोरों के हाथ तो इससे बढ़कर और विषाद की बात क्या होगी इस मनुष्य पर्याय में ?

अब गंवाने लायक समय कहां—भैया ! अब इतना कहां समय है कि और देख लें थोड़ा कुछ, इन परिग्रह विषयों में कुछ मिल जाय थोड़ा बहुत, तो अब समय गंवाने के लायक समय कहां है ? प्रथम तो इस मनुष्य भव के ये ४०-६०-८० वर्ष इस अनन्त काल के समक्ष गिनती ही क्या रखते हैं और फिर लूट पिट कर आधा समय मान लो खो दिया है, बाकी बचे खुचे समय का भी सदुपयोग करने का साहस नहीं जगता है। काल के प्रेरे चाहे यों जबरदस्ती वहां से हट जायें पर अपने आपकी ओर से कुछ भी हटना नहीं चाहता। लड़के समर्थ हो गए, पोते समर्थ हो गए और फिर भी चूंकि खुद के लड़के होना बंद हो जायें तो लड़के पोतों के तो होंगे। यह मोह बनाए हुए चले जा रहे हैं। रंच भी निवृत्त नहीं होते।

अन्तर में क्लेश है कहां—हे ज्ञानी पुरूषों ! तुम किसी के आधीन नहीं हो, केवल अज्ञान भाव में उठ रहे अपने आपके इन्द्रजाल के आधीन हो। जो कि व्यर्थ हैं और अंत में जिसके प्रसंग में रहता भी कुछ नहीं है, ऐसे इन्द्रजाल के आधीन होकर अपने उस वैभव को जो परमात्मा के समकक्ष ही लुटाये जा रहे हैं। अपने अन्तर में प्रकाशमान सहज ज्ञानज्योति को तो देखो, जिसकी किरणें पूर्ण हैं, अचल हैं। यहां तो कुछ भी गरीबी नहीं है, पर गरीब मान रखा है पूरा। यहां तो कुछ भी क्लेश नहीं है, बड़ा साफ स्वच्छ मैदान पड़ा हुआ है। पर क्लेश का पहाड़ अपने पर मान रखा है। यहां तो रंच भी मलिनता नहीं है। पर अपनी व्यक्ति में ऐसा मलिन बन रहे हैं कि प्रत्यय भी नहीं करते कि मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूँ। ये रागद्वेष तब तक ही उदित हो रहे हैं अपने आपमें जब तक यह ज्ञानी आत्मा अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवने में न लग सके।

विषय की खोज में उत्तम अवसर का दुरूपयोग—अहा; इतनी बात भीतर में मानने में कितना कष्ट हो रहा है कि मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ। जैसा है तैसा मानने में भी संकट छा रहे हैं और जो अपना नहीं है, असार है, भिन्न है, अचेतन है, उन सबसे इतना अधिक मोह कर रहा है कि जिसके कारण लोक में भी विवाद, विपत्तियां, अपमान और अनेक विडम्बनाएँ हो जाती हैं। जैसे कोई खुजैला, अंधा, गरीब तीनों ही रोग जिसमें हों, वह किसी नगरी में प्रवेश करना चाहता है जिस नगरी के चारों ओर कोट लगा हुआ है, जिसमें मानो केवल एक ही दरवाजा है। तो कोट को हाथों से टटोलता जा रहा है, मिल जाये कहीं दरवाजा तो नगरी में प्रवेश कर जाये। सो इतना तो परिश्रम किया, पर जब दरवाजा आया तब सिर की खाज खुजलाने लगा और पैरों से चलना चालू किए रहा। यदि वहीं खड़े ही खड़े अपनी खाज खुजला लेता तो भी विडम्बना न होती तो खाज खुजलाने में ही वह दरवाजा निकल जाता है, फिर उस कोट को टटोलकर चक्कर लगाता रहता है। होनी जिसकी खराब होती है उसके उसी जगह खाज उठती है जहां उसके छूटने का मौका मिलता है।

विषय खाज का प्रसंग परीक्षा का अवसर—फोड़े का कोई खूब इलाज करे तो कितना धीरे-धीरे उसे पोषते हैं। यदि जोर से पोषें तो घबड़ाहट हो जाय। बड़े प्रेमपूर्वक दवा कर रहे हैं और जब फूट गया, मानो ठीक होने को हो गया तो फिर खुजलाने लगा। फिर उसे खुजलाने का मंशा होती है। यदि खुजलाये नहीं तो ठीक हो जाता है परन्तु खुजला देता है यदि तो फिर फोड़ा तैयार हो जाता है। तो जैसे उस अंधे, खुजैले, गरीब पुरूष ने जहां ही दरवाजा मिलता है वहां ही सिर खुजलाने लगता है इसी प्रकार इन संसारी गरीब अज्ञान के अंधे विषयों के खुजैले जीवों ने बहुत घूम-घूम करके इस मनुष्य भव का द्वार प्राप्त कर पाया है, किन्तु इस ही द्वार के आगे वह विषयों की खाज तेजी से खुजलाने लगा। तेजी से विषय सेवने लगा, जितना कि पशु पक्षी भी नहीं कर पाते हैं, कितनी तरह के भोजन, किस-किस ढंग से बनावें ऐसा तो पशु पक्षी भी नहीं कर पाते हैं। इस मनुष्य को ज्ञान मिला है, बुद्धि मिली है, उस बुद्धि का उपयोग कलात्मक ढंग से विषयों के सेवन में किये जा रहा है। सो आज विषयों के खुजैले विषयों को खुजलाने लगते हैं और अपने पैरों से चलते जा रहे हैं अर्थात् जीवन का समय गुजरता जा रहा है। ये पैर न चलें तो भी भला है। विषयों की खाज खुजलाते जा रहे हैं और पैर भी चलते जा रहे हैं, इतने में आ जायेगी वृद्धावस्था, मरणकाल। लो फिर उस कोट को टटोलते-टटोलते फिर रहे हैं, अनेक कुयोनियों में भ्रमण कर रहे हैं। ऐसे सुन्दर अवसर से कुछ लाभ नहीं उठा पाते हैं।

अज्ञानी का व्यवहार—भैया ! यही हाल होता है पढ़ाये, सिखाये गए तोते का। तोते को खूब सिखाया पिंजड़ा से मत भगना, भगना तो दूर न उड़ जाना, उड़ जाना तो नलनी पर न बैठना, बैठ जाना तो दाने न चुगना, दाने चुगना तो लटक न जाना, लटक जाना तो छोड़कर भाग जाना—ये सब बातें खूब रट ली, पर जहां मौका देखा कि हमारा मालिक पिंजड़े का दरवाजा बंद करना भूल गया है, सो ही पिंजड़े से उड़कर दूर भग गया, नलनी पर जाकर बैठ गया, दाने चुगने लगा, पाठ वही रटता जा रहा है, जैसे अपन लोगों को खूब पाठ याद है विनतियां भी खूब याद हैं वैसे ही उस तोते ने भी खूब अपना पाठ याद कर लिया है। वह उस नलनी पर लटक भी गया, पाठ वही पढ़ता जा रहा है—कभी पिंजड़े से बाहर भगना नहीं, भगना तो दूर न भग जाना, दूर भी भग जाना तो नलनी पर जाकर न बैठना, नलनी पर बैठ भी जाना तो दाने चुगने की कोशिश न करना, दाने चुगना तो उसमें लटक न जाना, लटक जाना तो उसे छोड़कर भग जाना। ऐसा पाठ भी वह पढ़ता रहता है। उस तोते जैसा ही पाठ हम आप सबने भी याद कर रखा है।

आत्मा का शुद्धकार्य ज्ञान की वर्तना—पढ़ते जायें मोह राग द्वेष करना संसार में रूलने का उपाय है। और बच्चे को घना घना छाती से लगाते जाते हैं तो शायद यह तो उपदेश करने की विधि होगी। मोह न करो क्योंकि यह मनुष्य जीवन पाना बड़ा दुर्लभ है, ऐसा पाठ पढ़ते जायें और पास में खड़े हुए पुजारी से लड़ते भी जायें। तो यह तो शायद पूजा करने की विधि होगी ? अहो अज्ञान में इतना सर्व प्रवर्तन चल रहा है और अन्तर में देखो तो सही तो तू मात्र ज्ञानस्वरूप है और तेरा शुद्ध काम एक ज्ञान की वर्तना है,

उसको अपने लक्ष्य में न लेकर इन असार भिन्न, अशरण पदार्थों को अपना रहा है और दुःखी हो रहा है। तत्त्वदृष्टि से देखो तो इसमें न रागादिक विराज रहे हैं, न विषय विराज रहे हैं। यह ज्ञानी की दृष्टि की बात कही जा रही है। जो स्वसंवेदन ज्ञान का रूचिया है, जो शुद्ध स्वच्छ ज्ञान के दर्शन जब चाहे कर रहा है।

वस्तुस्वातन्त्र्यदर्शन से स्वात्मदृष्टि के विधान की शिक्षा—ऐसी इस ज्ञानज्योति को प्रकट करो और संसार के समस्त संकटों से मुक्त होने का उपाय बनाओ अन्यथा इस भव में भी केवल दुःखी ही रहकर कष्ट से मरण कर आकुलतावों के साथ परलोक जाना होगा और फिर आगे का तो हाल ही क्या है? जब सम्भाली हुई अवस्था है तब न चेते तो आगे कहां सम्भालने का मौका मिलेगा, इसका तो कोई ठिकाना ही नहीं है। सो देखो—इस तरह आत्मा के गुण आत्मा में हैं और उस ही प्रकार से इसका परिणमन चलता है। पुद्गल के गुण पुद्गलरूप हैं, उनका वहां परिणमन चलता है। ऐसा वस्तुस्वातंत्र्य निरखकर अपने आपके स्वरूप की दृष्टि करो जिस के प्रताप से ये समस्त संसार के संकट टल जायें।

समयसार प्रवचन चतुर्दशतम भाग समाप्त